श्रीहरिः

महाकवि 'नंददास' प्रणीत

भ्रमर-गीत

(...प्पणी और समभाव-द्योतक सूक्तियाँसहित)

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१९ प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य १.५० (एक रुपया पचास नये पैसे)

पता–गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

"श्रीहरिः"

संपादकीय

हिंदी-जननी "व्रजभाषा-साहित्य" में "भ्रमर-गीत", वा "भँवर-गीत"
रूप काव्य-सृजनकी परंपरा उस "श्रीमद्भागवत महापुराण" से आयी
जिसके प्रति—

"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं,
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं ।
पिबत भागवतं रसमालयं,
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥"

—भा० १, १. ३

जैसी लोकानंददायिनी अनेक सरस-सूक्तियाँ स्तुति-रूपमें कही-सु
जाती हैं। अतः हिंदी-साहित्यमें संस्कृतसे उधार लिया गया यह साहि
मौलिक रूपमें उस मूलसे कहीं अधिक फला-फूला, यह निस्संदेह का
जा सकता है। भक्त-कवियोंने तो इस हीरे-जैसे उजले विषयमें अपन
अपनी प्रतिभा-द्वारा "चार चाँद" ही लगा दिये। उदाहरणके लिये य
"श्रीनंददासजी"-प्रणीत "भ्रमर" वा "भँवर-गीत" प्रस्तुत है। यों
इस स्तुत्य विषयपर 'अष्टछाप' के सुप्रसिद्ध साहित्य-सूर्य "सूरदासजी
एवं "परमानंददासजी"के साथ-साथ रीति-कालके और भी महामा
कवियोंने, जिनकी संख्या उँगलियोंपर नहीं गिनायी जा सकती, कल
चलायी है, इस पावन विषयको उन्होंने चमकाया भी खूब है, किंतु जै
श्रीनंददासजीने गुननगरूले नये छंदकी गागरमें सम्पूर्ण भावोंका 'सा
भरा है, वैसा दूसरे कवियोंसे नहीं बन पड़ा है। सच तो यह है
यह विरह-विभूषित-काव्य-विषय श्रीनंददासजीकी नवरसमयी मुहावरे
ब्रजभाषाको पाकर सुगठित-रूपमें इतना ऊँचा उठा हुआ है कि उस
समसरि कोई भी कवि नहीं कर सका है। तभी तो साहित्य-मर्मज्ञ
आपके प्रति—

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१९ प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य १.५० (एक रुपया पचास नये पैसे)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

"श्रीहरि:"

संपादकीय

हिंदी-जननी "ब्रजभाषा-साहित्य" में "भ्रमर-गीत", या "भँवर-गीत"-रूप काव्य-सृजनकी परंपरा उस "श्रीमद्भागवत महापुराण" से आयी, जिसके प्रति—

> "निगमकल्पतरोर्गलितं फलं,
> शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं ।
> पिबत भागवतं रसमालयं
> मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥"
>
> —भा० १, १, ३,

जैसी लोकानंददायिनी अनेक सरस-सूक्तियाँ स्तुति-रूपमें कही-सुनी जाती हैं। अतः हिंदी-साहित्यमें संस्कृतसे उधार लिया गया यह साहित्य मौलिक रूपमें उस मूलसे कहीं अधिक फला-फूला, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। भक्त-कवियोंने तो इस हीरे-जैसे उजले विषयमें अपनी-अपनी प्रतिभा-द्वारा "चार चाँद" ही लगा दिये। उदाहरणके लिये यह "श्रीनंददासजी"-प्रणीत "भ्रमर" या "भँवर-गीत" प्रस्तुत है। यों तो इस स्तुत्य विषयपर 'अष्टछाप' के सुप्रसिद्ध साहित्य-सूर्य "सूरदासजी" एवं "परमानंददासजी" के साथ-साथ रीति-कालके और भी महामान्य कवियोंने, जिनकी संख्या उँगलियोंपर नहीं गिनायी जा सकती, कलम चलायी है, इस पावन विषयको उन्होंने चमकाया भी खूब है, किंतु जैसा श्रीनंददासजीने गुननगारूले नये छंदकी गागरमें सम्पूर्ण भावोंका 'सागर' भरा है, वैसा दूसरे कवियोंसे नहीं बन पड़ा है। सच तो यह है कि यह विरह-विभूषित-काव्य-विषय श्रीनंददासजीकी नवरसमयी मुहावरेदार ब्रजभाषाको पाकर सुगठित-रूपमें इतना ऊँचा उठा हुआ है कि उसकी समसरि कोई भी कवि नहीं कर सका है। तभी तो साहित्य-मर्मज्ञोंने आपके प्रति—

वह यह कि जैसा ऊपर लिख आये हैं—"आप (नंददास) प्रसिद्ध "श्रीराम-चरितमानस"-रचयिता भक्त-प्रवर "गो० तुलसीदासजी"के छोटे भाई थे।" इस बातकी पुष्टि "भक्तमाल"-रचयिता नाभादासजीसे आदि लेकर अन्य सभी भक्त-जीवनी लेखकोंने की है। श्रीगोकुलनाथ-कृत 'वार्ता' तथा उसपर टीका-कर्ता श्रीहरिरायजी भी यही कहते हैं। साथ ही ये सभी पुष्टिकर्त्ता श्रीनंददासजीके सम-सामयिक भी हैं, अतः उन्हें अपनी कल्पनामें झुठलाता हुआ आजका संकुचित हृदय साहित्यिक इसे स्वीकार नहीं करता! क्यों? इसका समुचित उत्तर उसके पास नहीं है। वह इन सत्य-समुन्नत साक्षियोंको न मानकर विना आधारके अपनी असत्य-मान्यताको प्रश्रय देता चला आ रहा है।

"भ्रमर-गीत"

भ्रमर-गीत, एक विरह-विभूषित काव्य-कथाका विषय है, किंतु उसे विशेष-रूपसे भक्ति, शृंगार और करुण रसोंका रम्य आगार, निर्गुण-सगुण-उपासना-तत्त्वोंका प्रभावशाली विस्तृत सागर तथा ज्ञान-भक्तिका भव्य भंडार भी कहा जा सकता है। कारण, भक्त-कवियोंने जहाँ इस 'देव-दुर्लभ' मिलनके सहारे "अनेकजन्मसंसिद्धिः"-रूप "मुक्ति-चतुष्टय" जैसे महान् पदार्थोंको ठुकराकर अपने उपास्यसे "विरहविछोहे" की याचना की है, वहाँ 'रीति-कवियों' ने इस विषयके द्वारा शृंगार रसको पूर्ण बनानेका अप्युत्तम उपक्रम किया है। अस्तु, जैसा पूर्वमें कहा है, इसका मूल-कथानक "श्रीमद्भागवतमें" इस प्रकार है—

"ब्रजमें जब अपनी अनेक रस-भाव-भरी ललित लीलाएँ रचकर—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" शूर वंशके कुलावतंस अक्रूरके साथ निष्ठुर आकाश हो मथुरा पधारे और कंसादिक-असुरोंका संहार कर अपने माता पिता देवकी-वसुदेवजीको बंदी-गृहसे छुड़ा महाराज उग्रसेनको पुनः मथुराकी राजगद्दीपर बैठाल दिया, तब आपको बिछुड़े हुए प्यारे ब्रजवासियों तथा "प्रेमपुञ्ज स्वरूपिणी" ब्रज-गोपिकाओंकी याद आयी, जिन्होंने—

"संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं"

रूप मूल-मंत्रको निरंतर जपकर अपने जीवनोंको आपपर उत्सर्ग कर दिया था, अतः तद्भाव-विभोर होकर आपने—

> "वृष्णीनां प्रवरो मंत्री कृष्णस्य दयितः सखा।
> शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥"
>
> —भा० १०, ४६, १,

को उन लोगोंके सान्त्वनार्थ, वा अपने इस निर्गुणवादी नये सखाको अपने-जैसा रस-सगबगा बनाने, कोरे ज्ञान-गर्वीले उद्धवको पुनीत प्रेममें परिणत करनेके लिये व्रज भेजा"'। अतः व्रज पहुँचकर श्रीउद्धवने पहले बाबा श्रीनंद और माता यशोदा तथा ग्वाल-बालोंके साथ मिले और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय संदेश दिया। उसके बाद आप 'व्रजबालाओं'से मिले और उन्हें आप भगवत्प्राप्त्यर्थ ज्ञानादिके कड़वे काढ़ेको प्रिय-संदेशकी मिसरीमें मिलाकर पिलाना चाहा तो बात बढ़ गयी, फलस्वरूप ज्ञान और भक्तिका संघर्षमय संवाद चल पड़ा। जब वह जय-पराजयकी तुलामें इधर-उधर लुढ़क ही रहा था कि कहींसे उड़ता हुआ एक रस-लंपट भँवरा, जो अपने रूप-गुणोंके कारण गोपियोंको कृष्णके समान, जैसे—

> "तेरौ तन घनस्याँम, स्याँम घनस्याँम उतै सुनि।
> तेरी गुंजँन सुरलि, मधुप उत मधुर मुरलि-धुनि॥
> पीत-रेख तव कटि-बसै, उत पीतांबर चारु।
> विपिँन-बिहारी दोउ रसत, एकै रूप सुभाउ॥
>
> —जुगल रस के सखा,"

—वहाँ आ पहुँचा और विरह-विलुलित व्रज-वनिताओंके अरुण-कमल-दलके समान पाद-पद्मोंपर गुन गुन करता हुआ बैठने, अथवा उन्हें चूमनेको मँडराने लगा तो प्रेम-रस-विह्वला गोप-ललनाओंके श्रीमुख खुल गये तथा उस उपस्थित भ्रमरकी ओटमें छिपे प्रेमका ढोंग रचनेवाले मधुरिया कृष्णके प्रति जो-जो तीखे, फिर भी मधुरसे मधुरतर तीर छोड़े गये, वही "भ्रमर"

या "भँवर गीत" के विषय रूपमें वंदनीय बना।
नंददासजीने इस भागवत-वर्णित शृंगार-रसमें सिंचित
ज्ञानके विस्तृत नीलानभमें ज्ञानी उद्धव और प्रेम-
निर्गुण-सगुणकी गोटोंसे खेले गये इस खेलको अपने
उसे बेहद सजाया—तर्क-वितर्कके हृदयहारी कटघरोंमें
सरस वर्णन इस अनोखी भाँतिसे प्रस्तुत किया कि
हृदयोंका हार बन गया।

संपादन कथा

इस "प्रेम लपेटे अटपटे"-भव्य भावोंसे भरे "ग्रं
प्रकाशनकी भी अनेक दुःख-सुखोंमें पली एक विशद क
प्रेक्षित प्रकाशनके समय कहना नहीं चाहता, फिर भी
अकथ-कथाके प्रति इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि
इस गुननगरूले ग्रंथका प्रकाशन आज दो युगोंके बाद हो
जापी वर्षों इधर-उधर अनेक मान्य विद्वानोंके करकमलों
उनके सद्विचारोंसे भी अलंकृत और पल्लवित होती
महानुभावोंमें पहलेके "बाबूजी" और अबके "राजर्षि" श्री
डन, श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय, पंडितप्रवर श्रीसावरम
डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल प्रमुख हैं, अतः संपादक

"अन्ये चारि महाभागाः सहाया ग्रंथ-निर्मितौ
ते सर्वे सुप्रसीदंतु नामतो न स्मृता ममः।

साथ इनका अति ऋणी हैं। साथ-ही परम भक्त विद्वद्
ादजी पोद्दार संपादक—"कल्याण", जिन्हें हम जैसे क्षुद्र
अपना" बनानेके लिये "भाईजी" कहा करते हैं, के भी अ
न्होंने अनेक-बार कड़वे उलाहनोंको सहकर भारतके सुप्र
गीताप्रेस"में मुद्रित करा सुंदर रूपमें प्रकाशित किया है।

संपादनकी आधार-भूत पोथी हस्तलिखित तथा मु
स-जोखा भी आज प्रकाशनके समय स्मृति-पटलसे ओझ

जिसका हमें खेद है। न मालूम कितने स्थानोंसे अमूल्य हस्त-लिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ एकत्रित की गयी थीं। उनमें तीन जैसे—"भरतपुर-राज्य पुस्तकालयकी सबसे प्राचीन और शुद्ध प्रति तथा *बा० राधाकृष्णदास संपादित "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" में और बा० बालमुकुंद गुप्त संपादित* "भारत-मित्र" प्रेस कलकत्तासे प्रकाशित प्रतियोंको नहीं भुलाया जा सकता। अंतिम दोनों आदरणीय मुद्रित प्रतियाँ व्रजभाषाके सौष्ठवसे—व्याकरणसे अलग हैं, फिर भी नमन-योग्य हैं, क्योंकि आप लोगोंने इसे मुद्रणका अमृत पिलाकर विकृत-रूपमें सही,—जीवित रक्खा है। साथ-ही संपादक उन महानुभावों, कवियों तथा ग्रंथ-रचयिताओंका भी बहुत-बहुत ऋणी हैं, जिनकी कोमलकांत पदावलियों एवं विद्वत्ताभरे विचारोंसे विभूषित कर इसे इतना पल्लवित किया गया है। और, अंतमें यह भी कि मुद्रणसे पूर्व प्रेस-कापी देखनेमें न आयी, सो न आयी। प्रूफ भी, विशेषकर आगेके तीन फर्मोंका जिनमें मूल छपा है, तब देखनेमें आया जब संपादक अधिक रुग्ण था, अतः उसमें गलतियोंका रह जाना कोई आश्चर्य-जनक नहीं। उदाहरणके लिये पृ०—"३५" पर मूलकी अंतिम पंक्ति "सुँनौं नँद-लाड़िले" के स्थानपर "सुनौं नँद-लड़िले", तथा पृ०—८३, पं० ११—२१ "धौंधी" के स्थानपर—"नैधी" तथा इसी भाँति पृ०—२३९, पं०—३ पर "द्वै छिगुनी" के स्थानपर "द्वै हिगुनी" छप गया है। इस प्रकारकी और भ्रांतियाँ भी होना संभव हैं, अतः संपादक उनके लिये क्षमा-प्रार्थी है, विज्ञ-पाठक उन्हें उचित रूपमें परिष्कृत कर लेंगे ऐसी आशा है।

मथुरा
"राम-नवमी"
संवत् २०१९ वि०

—जवाहरलाल चतुर्वेदी

अनुक्रमणिका

उद्धृत पद-सूची

श्रीहरिः

उद्धृत पद-सूची

"संस्कृत"

पृष्ठ-संख्या

अ

पृष्ठ संख्या

आ

"श्री"

उद्धृत पद-सूची

"हिंदी"

उद्धृत पद-सूची

"उर्दू"

३

सुनति स्याँम कौ नाँव, कौन, घर की सुधि भूली,
भरि आँनद-जल हिएँ, प्रेम बेली द्रुम फूली ।
पुलकि गौत गद्गद भए, भरि आए जल-नैन,
कंठ-घुटी गद-गद गिरा बोले जात न बैन ॥
—रिक्मनी-बैन की ॥

४

अभ्यागत पैठाइ बीठहि-परिकंमा दीन्हीं,
स्याँम-सखा-निज-जाँनि, बहौत हित-सेवा कीन्हीं ।
पूछति सुधि नँदलाल की, बिहँसति-सुन्य ब्रज-बाल,
नीके हैं बल-बीर जू, बोलत-बचँन-रसाल ॥
—सखा सुन स्याँम के

५

कुसल स्याँम औ राँम, कुसल संगी सब उन्हके,
जदु-कुल सिगरे कुसल, परँम-आँनंद सबँन्ह के ।
पूछँन-ब्रज-कुसलात कौं, हौं आयौ तुम्ह-तीरें,

पाठान्तर—
३—१. (क) सुनँत स्याँम कौ नाम ग्राँम घर की सुधि भ
(ख) सुँनति स्याँम को नाँम ग्राँम, गृह की सुधि
—अति हरष्यो...... ।
४—२. (ग) सखा-स्याँम कौ जानि बहुरि सेवा पुनि कीन्ही
५—३. (घ) ....मैं पठयौ तुम्ह........ ।

मिलि हैं थोरे-दिनँन मैं जिन्ह जिय होहु अधीर ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

६

सुनि-मोंहँन-संदेस, रूप-सुमरँन ह्वै आयौ,
पुलकित-आँनन-कँमल, अंग-आवेस जनायौ।
विह्वल ह्वै धरनीं परीं, ब्रज-बनिता मुरझाइ,
दै जल-छींट-प्रबोध-कीं, ऊधौ-बैंन-सुनाइँ ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

७

वे तुम ते नहिं दूरि, ग्याँन की आँखिन-देखौ,
अखिल-बिस्व-भरपूर, रूप सब उनहिं बिसेखौ।

पाठान्तर—

६—१. (त) सुनत स्याँम की नाँम०............
(प) मोंहन-सुनि संदेस..................
२. (च) पुलकत आनन-अलक..................
अथवा—
(स) पुलकत आनन अंग-अंग आवेस जनायौ।
(प) ....अंग सकल..................
३. (क) ऊधव-बात सुनाय,
४. (प)—प्रेम जुत ग्यान मैं।
७—५. (स), (प), (च), ब्रह्म में रूप बिसेखौ,
अथवा—
(ट) ब्रह्म सब रूप बिसेखौ,

लोह, दारु, पाखाँन में, जल, थल, मही, अकास,
सचर-अचर बरतत सबै, जोति-ब्रम्ह-परकास।
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

८

कौंन ब्रम्ह, को जोति, ग्याँन कासों कहें ऊधौ, ?
हमरें सुंदर-स्याँम, प्रेम को मारग-सूधौ।
नेंन, बेंन, स्रुति, नासिका मोंहँन-रूप लखाइ,
सुधि-बुधि-सब मुरली-हरी, प्रेम-ठगोरी लाइ ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

९

यै सब सगुँन उपाधि, रूप-निरगुँन है उँन्ह कौं,
निरबिकार, निरलेप, लगत नहिं तीन्हों-गुँन्ह कौं।
हाथ-पाँइ नहिं नासिका, नेंन, बेंन नहिं काँनें,
अच्युत जोति प्रकास हीं, सकल बिस्व के प्राँनें ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

पाठान्तर—

९—१. (क) प, ट, न—सगुँन सबै उपाधि रूप-निगुँन है उनकौ,……

२. (ख) निराकार, निर्लेप, लगैं ना तीनौं-गुन कौ।

३. (ग) पाँइ न हाथ न नासिका, बैंन नेंन नहिं कान,

४. अच्युत ज्योति प्रकासिका, सबै बिस्युके प्राँन।

अथवा—

ज्योति-हि-ज्योति प्रकास कै अखिल बिस्व के प्राँन।

१०

जो ब्रुख नाहिंन हुतो, कहाँ किन्ह-माँखन-खायौ,
पाँइन-बिन गो-संग कहौ, बन-बन को धायौ।
आँखिन में अंजन दियौ, गोवरधन लियौ हाथ,
नंद-जसोदा पूत है, कुँवर कान्ह ब्रज-नाथ॥
—सखा, सुन स्याँमके॥

११

जाहि कहौ तुँम्ह कान्ह! ताहि कोउ पिता न माता,
अखिल-अंड-ब्रम्हंड सकल उन्ह-ही सौं जाता।
लीला कौ अवतार लै, धरि आए तँन-स्याम,
जोग-जुगति ही पाइऐ, परब्रम्ह-पुर-धाँम॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी॥

पाठान्तर—

११—१. (ब) (प) कहौ जाहि तुम कान्ह,
ताहि कोउ पितु नहिं माता।
२. (छ) सकल अंड ब्रम्हंड बिम्ब उनहीं तें जाता,
अथवा—
(छ) सबै अंड ब्रम्हंड-लोक उनहीं सौं जाता,
३. (त) जुगति-जोग की पाइयै परब्रम्हं-पद-धाम।
अथवा—
(क) (प) जोगै-औगै पाइयत, परब्रह्म-पद-धाम

१२

ताहि बताओ जोग, जोग ऊधौ जहाँ पावौ,[1]
प्रेम-सहित हँम-पास, नंद-नंदँन-गुँन गावौं[2]।
नेंन, बेंन, तँन, प्राँन में, मोहँन-गुँन रह्यौ पूरि,[3]
प्रेम-पियूषै छाँड़िकें कोंन समेंटै धूरि॥
—सखा, सुन स्याँम के।

१३

धूरि बुरी जो होइ, ईस क्यों सीस-चढ़ावै,
धूरि-छेत्र में आइ, करँम-करि हरि-पद पावै।
धूरहिं ते यै तँन भयौ, धूरहिं तें ब्रम्हंड,
लोक-चतुरदस धूरि ते, सात-दीप नौ-खंडें॥
—सुनों, ब्रज-नागरी।

१४

करँम-धूरि की बात, करँम-अधिकारी जाँनें।
करँम-धूरि क्यों आँनि, प्रेम-अंमृत में माँनें॥

तब हीं लौं सब करम हैं, जब लौं हरि उर नाहिं ।
करँम-बंध सब बिस्व के, जीव-बिमुख ह्वै जाहिं ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

१५

करँमहिं निंदौ कहा ? करँम सौं सदगति होई ।
करँम-रूप ते बली नाहिं, त्रिभुवँन में कोई ॥
करँमहिं ते उतपत्ति है, करँमहिं ते सब नास ।
करँम-करे ते मुक्ति होइ, परब्रम्ह-पुर-बास ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

१६

करँम पाप औ पुन्न, लोह-सौंने की बेरी ।
पाँइन बंधँन दोऊ, कोऊ मानौं बौहतेरी ॥
ऊँच-करँम ते सरग है, नीच-करँम ते भोग ।
प्रेम-बिनाँ सब पचि मरे, बिषै-बसनाँ-रोग ॥
—सखा, सुन स्याम के ॥

पाठान्तर—

१५—१. (प) (६) सुभ कर्मंहिं कस निन्दत, जासौं सद्‌गति होई,
अथवा—(ट) (घ) कस सुभ कर्मं निन्दति, सद्गति जासौं होई ।
अथवा—(त) सुभ निन्दति का कर्मं सद्गति जातैं होई ।
२. (प) (त) बली कर्मं तें नाहिं अहो त्रिभुवन में०…
३. ,, ,, कर्मं किए तैं मुक्ति है पारब्रम्ह-पुर-बास ।
१६—४. (क) (प), बिनाँ प्रेम सब पचि मुए, विषय-वासना-रोग,
अथवा—(घ) बिना प्रेम पचि सब मरैं ………

१७

करँम बुरे जो होहिँ, जोग क्यों फिरि कोउ धारै[1]।
पदमाँसन सों द्वारि-रोकि, इंद्रिन्ह कों मारै[2]॥
ब्रम्ह-अगिन सों सुद्धि है, सिद्धि-समाधि लगाइ[3]।
लींन होइ सायुज्ज में, जोति-हिं-जोति समाइ[4]॥
—सुनों, ब्रज-नागरी

१८

जोगी जोगहिं भजै, भक्त-निज-रूपहि जाँनैं[5],
प्रेंम-पीयूषहिं प्रघट, स्याँम-सुंदर-उर-आँनैं।
निरगुँन गुँन जो पाइऐ, लोग कहैं यै नाँहिं,
घर-आएँ-नाग-न-पूंजिऐ, बाँमी-पूंजँन जाँहिं[6]॥
—सखा, सुन स्याँम के

तर—

१७—१. (ग) (घ) कर्म बुरी जौ होंइ जोग कोउ काहे धा
अथवा—(क) (ग) बुरे करम जौ होंइँ जोग काहे कोउ धा
२. ,, ,, पद्मासन सब द्वार-मूँदि इन्द्रिन क्यों मारै
३. (ख) ब्रह्म-अग्नि-करि सुद्ध है·········
४. (ग) होइ लीन सायुज्य में जोती-जोति जगाइ।
१८—५. (ट) (ख) (ग) जोगी जोगै भजै, भक्त निज रूपै जानै
अथवा—(च) (ट) (घ) जोगहिं जोगी भजहिं भक्त निज रूपहिं जानै।
६. (क) (घ) नाग न घर आएँ पूजै पुनि बाँबी पूजै जाहिं

१९

जो हरि कें गुँन होंहिं, वेद क्यों नेति-बखाँनें,
निरगुँन, सगुँन, आतमाँ कहि उपनिषद जु गाँनें ।
वेद-पुराँनन-खोजि कें, नहिं पायौ गुँन-एक,
गुँन-हीं कें गुँन होइ जो, कहि अकास कहँ टेक ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

२०

जो उन्ह कें गुँन नाहिं, और गुँन भए कहाँ तें,
बीज बिनाँ तरु जमें हँमें तुँम्ह कहौ कहाँ तें ।
या गुँन की परछाँहिं-री माया-दरपँन-बीच,
गुँन तें गुँन न्यारे नहीं, अमल-बारि ज्यों कीच ॥
—सखा, सुन स्याम के ॥

पाठान्तर—

१९—१. (त) (प) जो उनकें गुन नाहिं नेति क्यौं बेद-बखानें,
अथवा—(ज) गुन उनकें जौ नाहिं..........
२. ,, निरगुन, सगुन, आत्मा, रचि ऊपर सुख-मानें
३. ,, जो गुन हीं कें होइ गुन, कहु अकास किहिं टेक ।
२०—४. (क) गुन उनिकें जो नाहिं, भए गुन और कहाँ तें,
५. (क) बिना बीज तरु जमै नाहिं, तुम कहत कहाँ तें ।
अथवा—(प) बीज बिना तरु जमैं मोहिं तुम कहौ कहाँ तें ।
६. (प) गुन तें गुन भए कहूँ ज्यौं अमल-बारि मिलि कीच,

२१

माया के गुँन और, और गुँन हरि के जानों,
उँन्ह गुँन कों इँन्ह माँहिं आँनि काहें कों साँनों।
जाके गुँन औ रूप कौ, जाँनि न पायौ भेद,
तासों निरगुँन-ब्रंम्ह कों, बदत उपनिषद-बेद ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी

२२

बेदहु हरिके रूप, स्वाँस-मुख सों जो निसरे,
करँम-क्रिया-आसक्ति सबै पिछली-सुधि बिसरे।
करँम-मध्य ढूंढति सबै, किन्ह-हूँ न पायौ देखि,
करँम-रहित ही पाइऐ, तासों प्रेंम-बिसेखि ॥

—सखा, सुन स्याँम के

२३

प्रेंम जु कोहू बस्तु, रूप देखत लौं लागै,
बस्तु-दृष्टि-बिन कहा, कहा प्रेमी अनुरागैं।

तर—

२१—१. (ख) तातें निरगुन ब्रह्म कहि बरै उपनिषद-बेद, ॥

२२—२. (क)(ग)(घ) बेद जु हरी के रूप, स्वाँस मुख तैं निकरे

३. ,, ,, ,, करम-मध्य ढूँढै सकल तऊ न पायौ देखि

४. (ख)(ड)(ग) करम रहित ह्वै पाइयै तातें प्रेम विसेखि।

२३—५. (ख)(ग)(ड) प्रेम न कोउ बस्तु, न देखन मैं बस्तु आवै,

अन्तर—(ड) ईश्वर का कोइ बस्तु..............

तरनि-चंद्रके रूप कौ गुन नहिं पायौ जाँनें,
तौ उनकौ कहा जानिऐं, गुनाँतीत-भगवाँनें ॥

—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

२४

बरँनि, अकास-प्रकास, जाहि मैं रह्यौ दुराई,[3]
दिव्य-दृष्टि-बिन कहौ कौंन पै देख्यौ जाई[4]।
जिनकें वे आँखें नहीं, देखें क्यों वै रूप,[5]
तिन्हें साँच क्यों ऊपजे, जे परे करँम के कूर्प[6] ॥

—सखा, सुन स्याँम के ॥

२५

वे करिऐ नित करँम, भक्ति हू जामें आई,[7]
करँम रूप तें कहौ कौंन पै छूटयौ जाई।

पाठान्तर—

१. (ठ) तरन-चन्द्र के रूप कौ नहिं पायौ गुन जान।
२. (घ) उनकौं तौ जानैं कहा, गुनातीत भगवान ॥
अथवा— (ख) जानैं उनकौं कोउ कहा·····················
२४—३. (घ) (प) तरनि प्रकास अकास तेज मैं रह्यौ दुराई,
४. ,, ,, दृष्टि-दिव्य बिनु नाहिं काहु पै देख्यौ जाई।
५. ,, ,, जिनकी वे आँखैं नहीं कब देखैं वह रूप,
६. ,, ,, क्यों उपजै बिस्वास जे परे कर्म के कूप।
२५—७. (घ) (ट) (प) जब करियै नित कर्म,
अथवा— (क) (फ) करियै नित वह कर्म······

क्रम-क्रम करँम-हिं किऐं तें करँम-नास ह्वै जाँइं,
तब आतम निहकरम सों निरगुन-ब्रंम्ह समाइं ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२६

जो हरि के नहिँ करँम, करँम-बंधँन क्यों आवैं,
तौ निरगुन ह्वै वस्तु मात्र, परमाँन बतावैं।
जो उन्ह कौ परमाँन है, तौ प्रभुता कछु नाहिँ,
निरगुन भए अतीत के, सगुन सकल जग माहिँ ॥
—सखा, सुन स्याँम के।

२७

जे गुन आवें दृष्टि माँहिँ नस्वर ते सारें,
इन्ह सबहिँन तें वासुदेव अच्युत हैं न्यारें।

पाठान्तर—

१. (क) (ख) क्रम-क्रम कर्म किये तें, नास करम है जाइ।
२. „ „ आतम तब निष्कर्म ह्वै ब्रह्महि-मांझ समाइ।
२६—३. (क) (ख) हरि कैं जो नहिं करम, करम-बंधन क्यों आवै,
४. „ „ तौ निरगुन इक वस्तुमात्र परमान बतावै।
५. „ „ उनकी जो है परमान है प्रभुता किहि कछु नाहिं,
२७—१. (ट) (ख) गुन आवैं जो दृष्टि माँहिं ते नस्वर सारे,
२. (ट) (ग) इन सब हीं तें वासुदेव अच्युत हैं न्यारे।

इंद्री-दृष्टि-विकार ते रहित अधोछज-जोति,[1]
सुद्ध-सरूपी-ग्याँन की प्रापति तिन्ह कौं होति[2] ॥
—सुँनौं, ब्रज-नागरी ॥

२८

नास्तिक हैं जो लोग, कहा जानैं निज रूपै,[3]
प्रघट भाँनु कौं छाँड़ि गहैं परछाँहीं-धूपै ।
हम कौं तौ वा रूप बिन और न कछू सुहाईं,[4]
ज्यौं करतल-आमास के कोटँन ब्रंम्ह दरसाँईं[5] ॥
सखा, सुँन स्याँम के ॥

२९

ऐसे में नँदलाल-रूप नैंनन के आगें,
आइ गयौ छवि-छाइ, बने बरु पियरे बागें[6] ।
उधौ सौं मुख-मोरि कैं, कहति तिन्हहिं सौं बातें,[7]
प्रेम-अँमृत मुख सौं स्रवत, अंबुज-नैंन-चुचात ॥
—तरक रस-रीति की ॥

पाठान्तर—

१. (ट) (त) इन्द्रि-दृष्टि-बिकार तैं परैं अधोक्षज-जोति,
२. ,, ,, सुद्ध सरूपी जानि जिय तृप्ति जु तातैं होति।
२८—३. (च) (प) हैं नास्तिक जो लोग न जानत कछु वह रूपै,
अथवा— (फ) जो नास्तिक हैं लोग कहा जानत हित रूपै,
४. ,, हम कौं बिनु वा रूप के कछू न औंर सुहाईं,
५. ,, ज्यौं करतल-आमलकके ब्रह्म-हि-ब्रह्म दिखाइ।
२९—६. (ठ) (त) आइ गए छवि-छाइ, बने बीरी अरु बागे,
७. ,, ,, ऊधव तैं मुख-मोरि कैं, बैठि सकुच कहि बात,

३२

कोऊ कहै, पिय दरस देहु औ बैंन बजावौ,[1]
दुरि-दुरि बन की ओट, कहा हिय लौंन लगावौ।
हम कौं पिय तुम एक हौ, हम-सी तुम्ह कौं कोरि;[2]
बहुताइत की रावरे! प्रीति न डारौ तोरि[3] ॥
—एक ही बार यौं ॥

३३

कोऊ कहै, अहो स्याँम! कहा इतराइ गए हौ,[4]
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भए हौ।
ऐसैं कछु प्रभुता अहौ जानत कोऊ नाहिं;[5]
अबला-बध सुनि डर गए, बली जगत के माँहिं[6] ॥
—पराक्रम जाँनि कैं ॥

पाठान्तर—

३२—१. (ज) (ढ) कोऊ कहै पुनि दरस देहु पिय बैंनु-बजावौ,
अथवा— (त) कोऊ कहै अहो दरस देहु पुनि बैंनु-बजावौ,
२. ,, हम कौं तुमसे एकु हौ, तुमकौं हमसी कोरि,
३. (च) बहुत भाँतिके रावरे! यौं प्रीति न डारौ तोरि।
३३—४. (ख) (ग) कोऊ कहै कहौ स्याम! कहा इतराइ गये···,
५. ,, ,, ऐसी कछु प्रभुता हुती जानत कोऊ नाहिं,
अथवा— (च) कछु ऐसी प्रभुता तौ अहो कहत जगत कोऊ०···,
(छ) ऐसी तौ प्रभुता कछू अहो कहत कोउ नाहिं,
अबला-बुधि हम डर गईं बली हरैं जग-मोहिं।

३४

कोइ कहै अहो स्याम ! चँहत मारँन जो
गिरि-गोवरधँन-धारि करी रच्छा तुम
ब्याल-अनल विष-ज्वाल तें, राखि लई सब
अब विरहानल दहत हौ, हँसि-हँसि नंद-
—चोरि

३५

कोइ कहै ए निठुर, इन्हें पातक नहिं
पाप-पुंन के करँनहार ए आप-
इन्ह के निरदै-रूप में, नाहिँन
पै-प्यावत-प्राँनन-हरे, पुतनाँ
—

पाठान्तर—
३४—१. (क) (ख) कहै कोउ कहौ स्याम,
२. „ „ गोवरधन-कर-धारि,
३. (ख) (ट) ब्याल-अनल औ ज्वाल
४. „ „ बिरहानल अब दा
अथवा— (ख) बिरह-अनल अब दाहि
३५—५. (क) (ट) पाप-पुन्य के करन
६. „ „ इनके निरदय रूप
७. „ „ पय पीवन ही

३६

कोहू कहै री, आजु नाहिं आमें चलि आई,
रामचंद के रूप माहिं कीन्हीं निठुराई।
जग्य करावन जात हे विस्वामित्र समीपँ;
मग में मारी तारका रघुवंसी—कुल-दीपँ॥
—वाल-ही रीति यँ॥

३७

कोहू कहै, ए परँम-धरँम स्त्री-जित पूरे,[5]
लछ-लाघव-संधाँन धरें आयुध अति सूरे[6]।
सीताजू के कहे ते, सूपनखा पै कोपि;
छेदे-अंग विरूप करि, लोगँन-लज्जा-लोपि॥
—कहा ताकी कथा!

पाठान्तर—

३६—१. (ज) (क) रामचंद्रके धरम-रूप में हीं निठुराई,
२. ,, ,, मख-राखन वन जात है, विस्वामित्र समीप;
३. ,, ,, मारी मग में तारिका रघुबंसी-कुलदीप
४. ,, ,, —प्रथम हीं रीति यह।
३७—५. (ख) (ठ) कोऊ कहैए परम-धर्म इन्द्रीजित पूरे,
६. ,, (छ) लाघव-लछ-संधान, धरैं आयुध के सूरे।

विशेष—

सैंतीसवें छन्दमें दो सूक्तियों (२, ४) के पाठान्तर और मिलते हैं—"हत्यौ वालि-बलवान बान आयुध लै सूरे" तथा "तब लछमन के बान तैं करी-नासिका लोपि" आदि, पर ये पाठान्तर प्रसंगानुसार विरुद्ध हैं—कथानक-के बिगाड़नेवाले हैं, शब्द-संगठनसे भी विपरीत हैं, विज्ञ पाठक विचारें।

३८

कोहू कहै री, और सुनौं गुन इन्द्र के आ
वलि-राजा पै गए भूमि-माँगन वनम
माँगी बाँमन-रूप-धरि, परवत भए अ
सत्त, धरँम सब छाँड़ि कें, धरयौ पींठ पै
—लोभ

३९

कोहू कहै, इन्द्र परसराँम ह्वै माता
फरसा-कंधा-धारि भूमि-छत्रिंन्ह
सोंनित-कुंड-भराइ कें, पोखे अपने
इन्द्र के निरदै-रूप में कछु-हू नाहिं
—बिलग

पाठान्तर—

३८—१. (घ) (भ) कोऊ कहै अहो, और सु
२. ,, ,, राजा-बलि पै गए भूमि
३. (घ) ,, माँगन बामन-रूप धरि,
४. ,, (थ) सत्य, धर्म इन छाँड़ि सब
३९—५. (क) (ड) (ख) इनके निर्दयरूप मैं

विशेष—

उक्त उनतालीसवें छन्दका अन्तिम चरण और
छन्दका तीसरा चरण—दोनोंका पाठ एक ही है।

४०

कोइ कहै री, कहा हिरँनकच्छप तें बिगरयौ,[1]
परम-ढीठ-प्रहलाद, पिता के सनमुख झगरयौ ।
सुत अपने कों देति हो, मिच्छा-दंड बँधाइ;[2]
इन्ह बपु-धरि नरसिंघ कौ नखँन-बिदारयौ जाइ ॥
—बिनाँ अपराध ही ?

४१

कोइ कहै अहो, कहा दोष सिसुपाल नरेसैं,[1]
ब्याह-करँन कों गयौ नृपति भीषँम के देसैं ।
दल-बल जोरि बरात कौं ठाढ़ौ हो छबि-बाढ़ि;
इन्ह छल करि दुलही हरी, छुधित-ग्रास-मुख काढ़ि ॥
—आपने स्वारथी ॥

पाठान्तर—

४०—१. (घ) (प) कोउ कहै कछु कहा ! हिरनकस्यप सैं बिगरयौ,
अथवा— (क) कोउ कहै अहो कहा—·······
२. (घ) (प) सुत अपने कौं देति हो मिच्छा खंभ-बँधाइ;
अथवा— (क) अपने सुत कौं देत हो सिच्छा दंड बताइ;

४१—१. (क) (ख) कोउ कहै सखि ! दोष कहा सिसुपाल-नरेसै,
२. ,, ,, करन-ब्याह हित गयौ नृपति-भीषम के देसै ।
५. ,, ,, जोरि-बटोरि बरात कौं ठाढ़ौ हो छबि-बाढ़ि;
६. (ग) ,, छल-बल करि दुलही हरी, ग्रास छुधित-मुखकाढ़ि

जा-विधि मो पै रीझि-हौ, सो हौं करौं उपाइ;
तातें मो-मन शुद्धि होइ, दुविधा-ध्यान-मिटाइ ॥

—पाइ रस प्रेम कौ ॥

४५

ताही-छिन इक भँमर, कहूँ तें उड़ि तहाँ आयौ,
ब्रज-वनितन्द के पुंज माँहि, गुंजत छवि-छायौ ।
बैठ्यौ चाँहत पाँइ पै, अरुन-कँमल-दल जाँनि;
मँनु मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहिं प्रगट्यौ आँनि ॥

—प्रेम कौ भेष-धरि ?

४६

ताहि भँमर सें कहति सबै प्रति-उत्तर-बातें,
तर्क-वितर्कन्ह-जुक्त, प्रेम-रस-रूपी-घातें ।

पाठान्तर—

४४—१. (ख) (ग) जिहिं जिहिं विधि तुम रीझिहौ, हौं सो करौं उपाइ।
२. „ „ जातें मन-मो सुद्धि ह्वै दुविधा-ध्यान मिटाइ ।
४५—३. (ख) (ग) ताही छिन एकु भँवर कहूँ सौं तहँ उड़ि आयौ,
४. „ „ चौंहत बैठ्यौ चरन पर अरुन-कमल-दल जानि;
अथवा— (ग) चह्यौ बैठन पद-कमल पै सुभग अरुन-दल जाँनि
५. „ मनु मन ऊधौ कौ तबै, प्रगट्यौ प्रथमहिं आनि ॥
६. —मधुप कौ भेष धरि ॥
४६—७. (क) ताहि भँवर सौं कहैं सुघर, प्रति-उत्तर-बातैं,

जिनि परसौ मम पाँइ तौ, तुम्हरे-मोहन रस-चोर;
तुम्ह-ही सौ कपटी हुतौ, नागर नंद-किसोर ॥
—पदों में सूरि राउ।

४७

कोइ कहै अहो मधुप, तुम्हैं लाज हू नहिं आवत;
स्वामी तुम्हरौ श्याम, कूबरी-दास कहावत।
यहाँ ऊँच-पदवी हती, गोपी-नाथ कहाइ;
अब जदु-कुल पावन भयौ, दासी-जूठन खाइ ॥
—मरत कहा बोल कौं!

४८

कोइ कहै रे मधुप, कौन कहै तोहि मधुकारी;
लिएँ फिरत विष-जोग-गाँठि प्रेमी-वधकारी।

पाठान्तर—

४६—१. (क) जनि परिसै मो-पाँइ रे! गयौ आँनद-रस-चोर।
२. „ तोही सम कपटी हतो, नटवर-नंद-किसोर।
४७—३. (ख) (ट) कोउ कहै री मधुप, तोहि लाजौ नहिं आवतु,
४. „ „ तेरौ स्वामी हाइ! कूबरी-दास कहावतु
अथवा—(छ) कहत कोऊ रे मधुप, तोहि लज्जा नहिं आवे
„ सखा तिहारौ स्याम! कूबरी नाथ कहावे
अथवा—(ठ) साथी तुम्हरौ स्याम, कुबरिया-दास-कहावं
४८—५. (क) कहत कोऊ अहो मधुप, कहै तुम कौं को मधुक

रुधिर-पाँन कियौ बौहौत कै अधर-अरुन-रँगराते;
अत्र ब्रज में आए कहाँ करँन कौंन-सी घात ॥
—जात किन्ह पातकी ?

४९

कोहू कहै री मधुप, भेप उन्ह कौ क्यों धारयौ,
साँम, पीत, गुंजार-बेंनु-किंकिनि झँनकारयौ।
वा-पुर गोरस-चोरि कें फिरि आयौ इहि देस;
इन्ह कों जिन्ह मानों कोऊ, कपटी इन्ह कौ भेप ॥
—चोरि जिन्ह जाइ कछु ॥

५०

कोहू कहै रे मधुप, कहा मोंहन-गुन-गावै,[2]
हृदै-कपट सों परँम-प्रेंम नाहिंन छवि पावै[3]।

पाठान्तर—

४८—६. (क) लिएँ फिरत बिप-गाँठि प्रेंम-मिसि, मानौं बँधकर।

अथवा—(च) लएँ फिरत मुख जोग-गाँठि काटन बेकारी।

अथवा—(फ) फिरत लएँ अति जोग-गाँठि, काटन जु कटारीं।

विशेष—

उक्त छन्द (क) प्रतिमें (५२) नंबर पर और (च) (त) में चौवन (५४) नंबर पर है।

४९—१. (झ) वा पुर कौ रस चोरि कैं आयौ फिर इहि देस,

विशेष—

उक्त छन्द (च) प्रतिमें अड़तालीस नंबर पर और (प) में इक्यावन नंबर पर है।

५०—२. (ठ) (त) कोऊ कहै अहो मधुप! कहा गुन-मौंहन-गावौ,

३. ,, ,, कपट-हृदय सौं नाँहिं परम-प्रैंमिन-छवि पावौ।

जानति हौ गत-भाँति कै, सापनु लिखौ बुगाइ;
देखै बहु ब्रज-बासिनी, कौ जु तुम्हैं पतियाइ ॥
—छंद सत आनिकै

५१

काहू कहै रे मधुप, कहा तू रस कौं जानै,
बहुत कुसुम पै बैठि, सबै आपुन-सम मानै ।
आपुन-सौ हम को कियौ चाहति है मति-मंद;
दुबिधा-रस उपजाइ कै, दुखित-प्रेम-आनंद ॥
—कपट के छंद

पाठान्तर—
१. (ङ) (प) हौ जानति हरि भाँति कै सब कछु जायौ
अथवा—(थ) जानति हौ हरि भाँति सब सापनु लिखौ
२. (ङ) (त) देखैं बहु ब्रजबासिनी को जु तुमैं पतियाइ।
अथवा—(ग) पू चोरी ब्रजबासिनी नाहिं तुम्हैं पतियाँइ।
३. —कये हम आनिकै।
५१—४. (च)(छ)(ज) कोउ कहत अहो मधुप नाहिं तू रस कौं जा
५. ,, ,, बहु कुसुमन पै बैठि सबै सम-रम करि मानत।
अथवा—(प) (त) अमित कुसुम पै बैठि सबै आपन रस मा
अथवा—(ठ)—बहुत कुसुम पै बैठि-बैठि सबही सम मानैं
६. (क) (ग) आपुन सो हम कौं कियौ चाँहतु तू मति-मं
अथवा—(फ)···सम अपने हमकौं कियौ चाँहत क्यौं मति-
७. ,, दुबिध-ग्यान उपजाइ चित दुखित प्रेम-आ
अथवा—(च)···ग्यान-दुबिध उपजाइ मन, पारि प्रेम के प

विशेष—
पचासवाँ छन्द (छ) प्रति में इक्यावन नंबर पर और इक्यावन
पचास नंबर पर है, इसी तरह (क) प्रति में पचासवाँ
... और इक्यावनवाँ उनचास नंबर पर उद्धृत है।

५२

कोहू कहै रे मधुप, नाँहिं पट-पद-पसु देख्यौ,[1]
अबलौं या ब्रज-देस माँहिं कोहु नाहिं बिसेख्यौ।[2]
द्वै-सिंघ आनन-ऊपरैं, कारौ, पीरौ—गात;[3]
खल अंमृत सब मानहीं, अंमृत—देखि डरात[4]॥
—बाद यै रसिकता[5]॥

५३

कोहू कहै रे मधुप, बहौत निरगुन इन्ह जान्यौ,[6]
तरक-बितरकँन जुक्ति बहौत उन्हहीं में मान्यौं[7]।

पाठान्तर—

५२—१. (ठ) (प) कोउ कहै अहो मधुप, प्रेम-पद की सुख देख्यौ,
अथवा— (च) कोउ कहत रे मधुप, प्रेम-पट-पद-पसु देख्यौ,
अथवा— (प) कहैं कोउ अहो मधुप, कहूँ पसु पद-पद देख्यौ,
२. „ अब लौं याहि बिदेस माँहिं कोउ नाहिं बिसेख्यौ।
३. „ तैसोई सुरँग अति, कारौ, पीरौ गात;
अथवा— (क) द्वै-सिंघ आनन पर जमे, पीरौ कारौ गात।
४. „ अमृत-सम खल मानहीं पेखि जु अमृत डरात।
अथवा— (घ) खल अमृत सब पानहीं, अमृत देखि डरात।
५. —बाद यह रस-कथा।
५३—६. (ख) (घ) कोउ कहै अहो मधुप, बहुत निरगुन-हम मान्यौं,
अथवा—(घ) कोउ कहत अहो मधुप, निगुन इन बहु करि जानयौं
७. „ तर्क-वितर्कनि जुक्ति बहुत उनहीं यह आन्यौं।

पै इतन्हीं नहिं जानि-हीं, बस्तु-बिनाँ गुन नाहिं;
निरगुन भए अतीत के, सगुन सबै जग माहिं ॥
—यूक्ति जो ग्याँन होइ

५४

कोहू कहै रे मधुप, होंहिं तुम्हसे जो संगी,
क्यों न होहि तँन स्याँम सकल बातँन चतुरंगी ।
गोकुल में जोरी कोहू, पाई नाँहिं मुरारि;
ज्यों जु त्रिभंगी आपु हैं, त्यों करी त्रिभंगी-नारि ॥
—रूप, गुन, सील की ॥

अथवा— (ठ) तरक वितरकन जुगति जु करि उनहीं तैं मान्यौ
१. (क) ये इतनी नहिं जानहीं बिनाँ बस्तु गुन नाँहि
२. ,, निरगुन सबै अतीत के सकल सगुन जग माँहि ।
अथवा— (प) निरगुन-सक्ति जु स्याम की, लखी सगुनता माँहि ।
—सखा सुन स्याम के ।
३.

विशेष—
तिरपन नंबर का चौथा चरण और छब्बीस नंबर का चौथा चरण दोनों एक-से हैं ।
बावन नंबरवाला छन्द—"कोउ कहै रे मधुप नाहिं षट्पद पसु देख्यौ" (घ) प्रतिमें तिरपन नंबर पर और तिरपन नंबर वाला छन्द उसी प्रतिमें पचपन नंबर पर लिखा है ।

५४—४. (अ) (म) कोउ कहै अहो मधुप, होंहिं जो तुम सौ संगी
५. ,, ,, होहि न क्यौं तन-स्याम, सबै बातन चतुरंगी
६. ,, ,, जोरी गोकुल मैं कोउ पाई नहीं मुरारि
७. ,, ,, मनौ त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि
अथवा—(च) मदन-त्रिभंगी आप हैं, करी त्रिभंगी-नारि
अथवा—(छ) ललित-त्रिभंगी आपु ज्यौं करी त्रिभंगी-नारि

५५

कोऊ कहै रे मधुप, स्याँम—जोगी तू चेला,[1]
कुबजा—तीरथ जाइ कियौ इंद्रिन कौ मेला[2]।
मधुबन-सुधि-बिसराइ कैं, आए गोकुल माँहिं;[3]
यहाँ सबै प्रेमी बसैं, तुम्हरे गाहक नाँहिं[4] ॥
—पधारौ रावरे ?

५६

कोऊ कहै री सखी, साधु मधुबन के ऐसे,[5]
औरु वहाँ के सिद्ध-लोग, है हैं धौं कैसे[6]।

पाठान्तर—

५५—१. (द) (प) कोऊ कहै अहो मधुप, स्याम-जोगी, तुम चेला,
२. ,, ,, कुबजा-तीरथ भलौ कियौ इन्द्रिन कौ मेला।
अथवा— (च) तीरथ-कुबजा जाइ करौ इन्द्रिन कौ मेला।
३. ,, मधुबन सुधहिं बिसारकैं, आए गोकुल माँहिं।
अथवा— (क) मधुबन सिद्ध कहाइ कैं, आए गोकुल माँहिं;
अथवा— (त) सुधि-मधुबन बिसराइ कैं पहुँचे गोकुल-माँहिं,
४. (भ) (म) इत सब प्रेमी बसत हैं, तुमरौ गाहक नाहिं।
अथवा— (थ) प्रेमी इत सब बसत हैं गाहक तुमरे नाँहिं।

विशेष—

चौवनवाँ छन्द (क) प्रतिमें उनसठ नंबर पर, (च) प्रति में साठ नंबर पर और इसी तरह (प) प्रति में अट्ठावन नंबर पर हैं तथा पचपन नंबरवाला छन्द (त) प्रति में छप्पन नंबर पर, (थ) प्रति में बावन नंबर पर है।

५६—५. (थ) (त) कोऊ कहै रे मधुप, साधु मधुबन जो ऐसे,
६. ,, ,, फेरि तहाँ के सिद्ध, कहौ धौं ह्वै हैं कैसे।

औगुन-हीं गहि लेति हैं, औ गुन डारें मेंटि;[1]
मोंहन निरगुन होंहिं क्यों न, उँन्ह साधुँन कौं भेंटि[2] ॥
—गाँठि कौ खोइ कें।

५७

कोहू कहै रे मधुप, ग्यान उलटौ लै आयौ,
मुक्ति परे जे लोग, तिन्हें फिरि करँम बतायौ।
बेद उपनिषद-सार जो, मोंहन-गुन गहि लेति;
तिन्ह कौं आतम-शुद्धि करि, फिर-फिरि मंथा देति ॥
—जोग-चटसार दै

५८

कोहू कहै सखि, विश्व-माँहि जेतक हैं कारे,[1]
कोटि-कपट की ग्याँन, कुटिल-मोनस विषहारे।

पाठान्तर—
१. (अ) (ग) औगुन-गुन गहि लेति हैं गुन कौ डारत मैं[illegible]
२. " (घ) मोहन निरगुन की गहैं गुन साधुन की प्री[illegible]
३. (ग) (घ) कोऊ कहै अहो मधुप, ग्यान की उलटी ला[illegible]
४. " " अब मुक्ति जे लोग, करम फिरि तिन्हैं बता[illegible]
[illegible]

[illegible]

एक स्याँम-तँन परसि कें जरत आजलों अंग;
ता पाछें यै मधुप फिरि, लायौ जोग-भुअंग[1] ॥
—कहा इन्द्र कों दया ?

५९

कोहू कहै रे मधुप, कहत अनुरागी तुम्ह कों;[2]
कौंनें गुनधों जानि ? परँम-अचरज है हम कों[3] ।
कारौ-तँन अति पातकी, मुख-पियरौ जग-निंद[4];
गुन-औगुन सब आपुने आपु-हिं जाँन अलिंद[5] ॥
—देखि, लै-आरसी[6] ॥

६०

या विधि सुंमरि गुविंद, कहति ऊधौ-प्रति गोपीं,[7]
भृंग-संग्या करि वदत सकल कुल-लज्जा-लोपीं[8] ।

[पा]ठान्तर—

१. (म) ता पाछैं यह मधुपहू, लायौ जोग-भुवंग ।
५९—२. (च) (ज) कोऊ कहौ अहो मधुप, कहैं अनुरागी तुम्हकौं,
३. ,, ,, कौनैं गुन कौं जान यहै अचरज है हमकौं ।
४. ,,...........कारौ-मन बहु पातकी, पियरौ-मुख जग-निंद;
५. (छ).........अवगुन-गुन सब आपुने आपी जान मलिंद ॥
६. ,, —देखि गहि आरसी !

[वि]शेष—

अट्ठावन नंबरवाला यह छन्द (थ) प्रति में सैंतालीस नंबर पर [औ]र उनसठ नंबरवाला छन्द उनचास नंबर पर (क) प्रति में [उ]द्धृत मिलता है ।

६०—७. (ख) या विधि सुमिरि गुविंद, कहैं ऊधव प्रति गोपीं,
८. ,, संग्या भृँग करि कहत सबै लज्जा कुल लोपीं ।

ता-पाछैं इक बार-हीं रोइ उठीं ब्रज-नारि;[1]
हाकरुनाँ-मैं नाथ हो, केसौ, कृष्ण, मुरारि[2] ॥
—फाटि हियरौ चल्यौ[3] ॥

६१

उँमग्यौ जो तहँ सलिल, सिंधु-सौ तन की धारँनें,
भींजे अंबुज-नीर, कंचुकी, भूषँन, हारँनें ।
ताही प्रेंम-प्रवाह मैं, ऊधौ चल्यौ बहाइ;
भली ग्याँन की मेंड़ि-सी, ब्रज मैं प्रघट्यौ आइ ॥
—कूल कौ रूँन भयौ !

पाठान्तर—
१. (घ) ता पाँछैं एक बारही उठीं रोइ ब्रज-नारि
अथवा— (म) तन-मन तैं छवि स्यामकी, ऐसी दई दिखा
जिमि गोरसगोरस मिलैं, नैंकु न बिलग जना
२. " —अधिकता प्रेम कै
३. "
६१—४. (ख) (ग) उँमगौ ज्यौं कोउ सलिल-सिन्धु तनकी करि धा
अथवा—(ङ) उँमगी कोउ जे सलिल भनु मैननि की धारा,
भिजवति भौ बहि जाति कौतुकी सिन्धु-अपारा ।
५. " ताहि प्रेम-मय सिन्धु मैं ऊधव चले बहाइ;
६. " —कूल-तारन भए ॥
७. (छ) —सकल कुल तरि गयौ !
(र) कूल कैं तून भए ॥
(प)

६२

प्रेम-विवस्था देखि, सुद्धि अति भक्ति-प्रकासी,[1]
दुविधा-ग्यान-गिलान मंदता सिगरी नाँसी।
कहति अहो निसचै यहं, हरि-रस को निज-पात्र;[2]
हों तो कृत-कृत ह्वै गयौ, इन्ह के दरसन मात्र॥
मेटि मल-ग्यान को!

६३

पुनि-पुनि कहि 'हरि' कहन बात एकांत पठायौ,[3]
मैं इन कौ कछु मरम जाँनि एकौ नहिं पायौ।
हों कहों निज-मरजाद की, ग्यान-करँमनि रोपै;
ए सब प्रेम-असक्त ह्वै, रही लाज-कुल-लोपै॥
—धन्य ए गोपिका!

पाठान्तर—

६२—१. (ख) (न) प्रेम-प्रसंसा करति सुद्ध जो भक्ति-प्रकासी;
२. ,, कहति भयौ निसचै येही हरि-रस कौ निज पात्र।
अथवा— (भ) निसचैही ए हैं अहो, हरि-रस की सब पात्र।
६३—३. (क) पुनि मन मैं कहि कहन बात एकान्त पठायौ;
४. ,, पै इन कौ मैं मरम जानि एकौ नहिं पायौ।
अथवा— (ख) इन कौ हौं कछु मरम जानि नहिं एकौ पायौ।
५. (घ) हौं तौ निज मरजाद सौं ग्यान, कर्म कह्यौ रोपि
६. ,, ये सब प्रेमासक्ति ह्वै कुल-लज्जा दई लोपि।

६४

जो ऐसैं[1] मरजाद-मेंटि मोंहन कों ध्यावैं,
क्यों न परँम-आँनंद-प्रेंम-पदवी कों पावैं[2]।
ग्याँन, जोग सब करँम तें, प्रेंम-परें जोइ साँच;[3]
हों इन्ह पटतर देति हों, हीरा-आगें काँच ॥
—विपमता बुद्धि की।

६५

घन्न-धन्न ए लोग, भजत जो हरि कों ऐसें,[4]
और कोहू बिन रस-हिं प्रेंम-पावत कहौ कैसें[5]।
मेरें वा लघु-ग्याँन कौ, रह्यौ जु मद है ब्याधि;[6]
अब जान्यों ब्रज-प्रेंम कौ, लहति न आधों-आधि ॥
—वृथाँ स्रँम करि मरयौ।

पाठान्तर—

६४—१. (क)……ऐसैं जे मरजाद-मेंटि मोंहन कौं ध्यावैं,
२. ,,……काहे न परमानंद प्रेंम-पदवी कौं पावैं।
अथवा— (छ) काहे न प्रेमानंद-प्रेंम पद पी कौं पावैं।
अथवा— (ग) काहे न परमानंद प्रेंम-पदवी सुखु पावैं।
३. ,, ग्यान, जोग सब करम सौं प्रेंम-परे जे साँचु;
६५—४. (घ) (च) (ज) धन्न, धन्न, ऐ धन्न, भजैं हरि कौं जो ऐसैं,
५. ,, और जु पारस प्रेंम-बिना पावत कहु कैसैं।
६. ,, ,, ……मेरे या लघु ग्यान कौ उर-मद रह्यौ उपाधि;
अथवा— (च) या लघु मेरे ग्यान कौ मन मैं मद रह्यौ बाधि।

६६

पुनि कहँ परसि जु पाँइ, प्रथम हौं इन्हैं निवारयौ,
भृंग-संग्या करि कहत, निंद सबहिंन तें डारयौ ।
अब ह्वै रहौं ब्रज-भूमि के, मारग में की धूरि;
विचरत पग मो पै परें, सब-सुख-जीवन-मूरि ॥
—मुनिन्ह दुरलभ अहै ॥

६७

कै ह्वै रहौं द्रुम-गुल्म, लता, बेली बन-माँहीं,
आवत-जात सुभाइ परें मो पै परछाँहीं ।

पाठान्तर—

६६—१. (ख) (ग) पुनि कहि परसत पाँइ, प्रथम मैं इन्हैं निवारयौ,
अथवा— (घ) कहि पुनि परसत पाँइ सबनि हौं प्रेम हि वारौं,
२. ,, भृंगी-संग्या करत बिसद-गुन-गुन बिस्तारौं ।
३. ,, अब रहि हौं ब्रज-भूमिकी ह्वै पग-मारगधूरि;
अथवा— (ग) तब अति सै कृत-कृत्त ह्वै भूँव धसै सह पाँइ;
४. ,, उद्धव तैं मधुकर भयौ मुद्रा-जोग मिटाइ ।
५. (क) —मुनिनहूँ दुरलभै !
अथवा— —मुनिन दुरलभै जो !
६७—१. (क) कैसैं होंहूं द्रुम, लता, बेलि, यली बन माँहीं,
२. (ग) परै सुआवत-जात सदाँ मो पै परछाँहीं ।

सोऊ मेरे वस नहीं, जो कछु करौं उपाई;
मोंहन होंहि प्रसन्न जो, यै बर माँगों जाई ॥
—कृपा-करि देंहि जो!

६८

पुनि कहि सब तें साधु-संग, उत्तम है भाई[3]!
पारस-परसें लोह, तुरत कंचँन ह्वै जाईं[4]।
गोपी-प्रेम-प्रसाद सौं, हौं-हीं सीख्यौ आई;
ऊधौ ते मधुकर भयौ, दुविधा-ग्यान मिटाई ॥
—पाइ रस प्रेम कौं!

६९

ऐसें मग--अभिलाखि करत मथुरा फिरि आयौ,
गदगद, पुलकित अंग-अंग आवेस जनायौ।

पाठान्तर—

१. (ख) मेरे यह हू बस नहीं, करौं सु कछुक उपाइ;
२, ,, मौंहन होंहिं प्रसन्न जो बर-बर माँगौं जाइ।

विशेष—

छाछठवाँ छन्द (घ) प्रतिमें सड़सठ नंबरपर और अड़सठवाँ छन्द छाछठ नंबरपर मिलता है।

६८—३. (ख)·····कहि पुनि सब तें संग-साधु उत्तम है भाई,
४. ,, ····· परसें-पारस लोह, छिनक कंचन ह्वै जाई।
५. (ग) (छ) स्वाँति-बूँद सीपहि मिलें मुक्ता होत सुभाइ;
६. ,, ,, नीर-छीर सँग के मिलें बिसद-रूप दरसाइ।
७. ,, ,, —संग को गुन लखौ!

६९—८. (घ) (म) इहि बिधि मन अभिलाष करत मथुरा पुनि

गोपी-गुन-गावँन लग्यौ, मोंहन-गुन-गयौ भूलि;
जीवँन कौ लै का करों, पायौ जीवँन-मूलि ॥
—भक्ति कौ सार जो[1] ॥

७०

ऐसें सोचत, स्याँम जहाँ राजत तहँ आयौ,[3]
परकंमा,[4] डंडौत, प्रेंम सों हेत जनायौ[4] ।
लखि निरदइता स्याँम की, करि क्रोधित दोहु नैंनं;
पुनि व्रज-वनिता-प्रेंम सों बोलत रस-भरे बैंनं ॥
—सुँनों, नँद-ढ़िले ![ला]

तर—
१. (घ) (म) गद-गद, पुलकित रौम अंग आवेस जनायौ,
२. ,, ,, —भक्ति कौ सार यह ?
अथवा— (घ) —भक्ति कौ मूल ये,

—

इसठवाँ छन्द (क) प्रतिमें छाछठ नंबरपर उद्धृत मिलता है।
न्दका चौथा चरण जैसे—"ऊधौ तें मधुकर भयौ दुविधा-ग्यौंन-
" सड़सठवें-छन्दके पाठान्तरमें उद्धृत किया जा चुका है। यथा—
सब श्रनिसैं कृत-कृत्य ह्वै भूंव बसे सहि पाइ;
"उद्धव तैं मधुकर भयौ मुद्रा-जोग मिटाइ !"
—लही यह संपदा !

अथवा—
"ऊधौ तैं मधुकर भयौ दुविधा-जोग मिटाइ" ॥

७०—३. (क) (ट) एसैं सोचत जहाँ स्याम तहँ आयौ-धायौ,
४. ,, ,, परिकरमा, दंडौत जुकरि आवेस जनायौ।
५. (घ) (छ) कछु निरदयता की लखि, करि क्रोधित दोउ नैंन;
अथवा— (झ) निरदयता लखि स्यामकी, क्रोधित कारे दोउ०;
६. (घ) (छ) कछु ब्रज-वनिता प्रैंमकी, बोलत रसभरे बैंन ॥

७१

करुनामई-रसिकता है तुम्हरी सब झूंठी,
तब हीं लौं कहौ लाख, जभी लौं बँध रही मूंठी।
मैं जॉन्यों ब्रज जाइकैं, निरदै तुम्हरौ-रूप;
जो तुम्ह कों अवलंब-ही, तिन्ह कों मेलौ कूप॥
—कौंन यै धरँम है

७२

पुनि-पुनि कहै अहो स्याँम, चलौ वृंदावँन रहिऐ,
परँम-प्रेंम कौ पुंज जहाँ गोपिंन्ह-सँग लहिऐं।

पाठान्तर—

६—अथवा—(झ) ब्रज-बनितन कछु प्रेंम लखि, रस-भरे बोलत बैंन
अथवा— कछु निरदयता स्याम की सोच सजल दोउ नैंन
७१—१. (क) (ख) करुनामै औ रसिक-प्रकृति, तुमरी सब झूंठ
अथवा—(प) करुनामयी रसिकता सब तुम्हरी अति झूंठी,
२. ,, जब हीं लौं नहिं लखौ, तबहिं लौ बाँधी मूंठी।
अथवा—(फ) ब्रज-बनितन दुख-दयौ सबन-मन करि निज मूंठी
३. (क) (ख) जान्यौं ब्रज मैं आइ कैं तुम्हरो निरदै-रूप;
४. ,, ,, तुमकौं जो अवलंब ही, मेलौ तिन कौं कूप॥
५. —कौंन सौ धरम यह।
७२—६. (ठ) (ड) पुनि-पुनि कहै हे स्याम, जाइ वृंदावन रहिये,
७. ,, ,, प्रेंम-पुंज तैं तनक-प्रेंम गोपिन-सँग लहिये।

और संग सब छाँड़ि कें, उन्ह-लोगँन्ह सुख-देहु;
नातरु टूट्यौ जात है, अब-हीं नेह-सनेहु ॥
—करौगे फिरि कहा ?

७३

सुनति सखा के बैन, नैंन भरि आए दोऊ,
बिबस प्रेम-आवेस रही नँहिंन सुधि कोऊँ।
रौंम-रौंम-प्रति-गोपिका, भईं साँवरे-गातँ;
कलप-तरोरुह साँवरौ, ब्रज-बनिता हीं पातँ ॥
—उलहि अँग-अँग ते ॥

७४

है सचेत, कहि भले सखा, पठएं सुधि ल्यावनँ,
औगुन हमरे आँनि, तहाँ ते लगे दिखावनँ।

पाठान्तर—

१. (ठ) (प) औरु काम सब छाँड़िकैं, ब्रज-बनितन सुख देहु;
२. (च)······नातरु टूटहि जाइगी, सबै जु नेह-सनेहु ॥
३. —करौगे तौ कहा ?
७३—४. (क)···बिबस प्रेम के भएँ रही सुधि नाहीं कोऊ,
५. ,, रौंम-रौंम मैं गोपिका, भई साँवरे-गात;
अथवा— (ख) रौंम-रौंम प्रति गोपिका, ह्वै गई साँवरे गात;
अथवा— (छ) रौंम-रौंम सब गोपिका ह्वै रहीं साँवल-गात;
६. (थ) काम-तरोवर साँवरौ ब्रज-बनिता भई पात ॥
अथवा— (भ) काम-तरोवर रस भरौ, ब्रज-बनितनके पात ॥
७४—७. (प) (फ) (भ) ह्वै सुचेत कहि भल्यो सखा पठयौ सुधि ल्यावन,
८. ,, ,, ,, अवगुन सगरे आँनि तहाँ सौं लगे बतावन।

उन में, मो में है सखा, रंचक-अंतर नाँहिं;[1]
ज्यों दीखत मो-माँहिं वे, त्यों हौंहूँ उन्ह माँहिं ॥[2]
—तरँगनि-वारि ज्यौं!

७५

गोपी-रूप दिखाइ तबै मोहन, बनवारी,[3]
ऊधौ-भ्रमहिं निवारि, डारि पुनि मोह की जारी।[4]
अदभुत-रूप बिहार कौ, लीन्हौं बहुरि दुराई;[5]
"नंददास" पावन भयौ, सो यै लीला गाई ॥[6]
—प्रेम-रस-पुंजनीं[7]!

पाठान्तर—

१. (घ) (फ) (भ) मो मैं उन मैं अंतरौ एकौ छिन भरि नाहिं;
अथवा— (ज) उन मैं, मो मैं अहो सखा! छिन भरि अंतर नाहिं;
२. ,, ज्यौं देख्यौ मो माँहि वे, हौं हूँ उनहीं माँहिं।
अथवा— (त) ज्यौं देखौ मो-माँहिं वे, त्यौं मैं उनहीं माँहिं।
७५—३. (क) गोपी आप दिखाइ, एकु-करि कै बनवारी,
४. ,, ऊधौ के भरे नैन डारि श्यामोहक-जारी।
अथवा— (ख) ऊधव-भ्रम जु निवार डार मुख मोह की जारी।
५. ,, अपुनौ रूप बिहार कौ, लीन्हौं बहुरि दुराइ;
अथवा— (ढ) अपनौ रूप दिखाइ कै, लीन्हौ पुनहिं दुराइ;
अथवा— (ण) हम ऊधव जानी नहीं, ओछी करि है प्रीति
६. ,, भली भई प्रभु सौं चली जग मैं उलटी रीति।
अथवा— (द) "जन-मधुकर' पावन भए, रस-लीला हरि गाइ।
७. (ण)
—कहयौं रौमांच है!

टिप्पणी
और
सम-भावद्योतक सूक्तियाँ

टिप्पणी
और
सम-भावद्योतक सूक्तियाँ

कथानककी पूर्व-पीठिका—'उद्धवका गोपियों से कृष्ण-संदेश कहने
ना।'

उद्धव—(ऊधौ) (ऊधव) यादव-वंशी श्रीकृष्णके सखा, मित्र,
, दोस्त वा भक्त। जैसे—

> वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
> शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥
> (श्रीमद्भा० १०।४६।१)

उद्धव, देवमीढ अर्थात् शूरसेनकी स्त्री 'मारिषा' से उत्पन्न 'देव-
ग' के पुत्र थे।

> देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत्।
> तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान्॥
> वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम्।
> सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम्॥
> (श्रीमद्भा० ९।२४।२७—२९)

अथवा—

'शूरस्यापि मारिषा नाम पत्न्यभवत् । तस्यां चासौ दश पुत्रानजनयद्वसुदेवपूर्वान्............। तस्य च देवभागदेवश्रवोऽष्टककुचकवत्सधारकसृञ्जयश्यामशमिकगण्डूषसंज्ञा नव भ्रातरोऽभवन् ॥'

(विष्णुपुराण, चतुर्थ अंश १४ । २६, २७, ३०)

अस्तु—

उद्धवो देवभागस्य महाभागः सुतोऽभवत् ।
पण्डितानां परं प्राहुर्देवश्रवसमुद्भव ॥

(हरिवंशपुराणे)

'देवभाग' का दूसरा नाम 'उपंग' भी था । श्रीसूर ने कई जगह उद्धव को—'उपंग-सुत' के सरस-सम्बोधन से सम्बोधित किया है—

हरि ! गोकुल की बात चलाई ।
सुनौ "उपँग-सुत" मोहि न बिसरत, ब्रज-बासी सुखदाई ॥

अथवा—

पाती लिखि, ऊधौ-कर दीन्हीं ।
नंद-जसोदा-हित कहि दीजो, हँस 'उपंग-सुत' कीन्हीं ॥

(भ्रमरगीत, सूरसागर)

---

१ उद्धव शब्द 'उपगु' से बना है, अतएव उद्धव को श्रीसूर ने 'उपंग-सुत' 'उपँग-सुत' कहकर सम्बोधन किया जाता है, इसी प्रकार श्रीशुकने भी उद्धव को 'औपगवि' के सुन्दर-सम्बोधनसे सम्बोधित किया है—

इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेर्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ४ । २७)

उद्धव शब्दका एक मनोहर अर्थ और मिलता है—

कम्पोऽथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः॥
(अमरकोश नाट्यवर्ग ७ । ३८)

अर्थात्—क्षणः, उद्धर्षः, महः, उद्धव और उत्सव, ये उत्सव खुशी के नाम हैं। इस अनुपम अर्थके सहारे श्रीजीवगोस्वामी भगवान् के सखा 'उद्धव' पर एक सरस टिप्पणी जड़ते हुए कहते हैं—

'द्वयोरपि भ्रात्रोरुद्धवनामानौ पुत्रौ कथ्येते तथाप्ययं भागसुत एव ज्ञेयः, महाभागत्वं खलु तादृशश्रीकृष्णकृपायो- र्न तु पण्डितमात्रत्वं तदेवमेव कश्चिदङ्ग महाभाग सखा नः नन्दनः इति स एव व्रजेश्वरेण तथा सम्बोधयिष्यते श्लेषेण साद्धवः 'मूर्तिमानुत्सव' इति।'
(वैष्णव-तोषिणी टीका, भागवत)

उद्धव, ऊधव और ऊधौ सम्बोधनों के प्रयोग—

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम्॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५३)

'उद्धव' बेगि हीं ब्रज जाहु।
सुरति-सँदेस सुनाइ मेटौ, बल्लभिन्ह कौ दाहु॥
(भ्रमरगीत-सार पृ० ३ । ८)

...रीति के भाँमती-भौन भले अब 'उद्धव' प्रेम कौ पंथ सिखाइये।'
(गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह पृ० ७)

ऊधव—

'ऊधव' के चलत गुपाल उर-माँहिं चला०—
(उद्धव-शतक। रत्नाकर २०)

ऊधौ—

'ऊधौ' सवँन समोधि, बाँचि स्याँम की पत्रिका।'
(नवनीत कवि)

(उपदेश)—शिक्षा, दीक्षा, हित-कथन, सिखावन, सीख, नसीहत। ब्रज, सं०—व्रज—गो-स्थान, मथुरा-मण्डल, समूह—

"समूह-निवह-व्यूह-संदोह-विसर-व्रजाः"
(अमरकोश २।५।११)

नागरी— नगरमें रहनेवाली, प्रवीण, चतुर स्त्री। यहाँ 'नागरी' शब्दका अर्थ इससे सम्बन्धित 'ब्रज' का वाचकाटकर श्रीवियोगी हरिजीने अपने पहले संस्करण 'ब्रज-माधुरी-सार' में और श्रीयुत ब्रजरत्नदासजीने सम्पादित 'भ्रमर-गीत' में (नागरीका अर्थ) 'नगरवासिनी' अथवा 'नगर-निवासिनी' किया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ब्रज में नगर-निवासिनी स्त्रियाँ नहीं रहती थीं— निवास नहीं करती थीं। अपितु यहाँ दोनों अर्थात् 'ब्रज और नागरी' का अर्थ एक साथ ही होगा। ब्रज-नागरी—ब्रज की चतुर या प्रवीण स्त्री, या स्त्रियाँ।

रूप—किसी का वह गुण जो चक्षुरिन्द्रिय-द्वारा जाना जाता है, अथवा पदार्थों के वर्णों व आकृति का ढंग जिसका ज्ञान नेत्रोंको होता है। रंग, आकार, आकृति और सुन्दरताका भी नाम है।

पदार्थोंमें एक शक्ति सन्निहित रहती है जिससे इन्द्रियाँ उन पदार्थोंकी आकृति और वर्णादिका ज्ञान कर सकें। ऐसा कहना है, इसीसे इस शक्तिको 'रूप' कहते हैं; क्योंकि दर्शन शास्त्रकारोंने

। चक्षुरिन्द्रियका ही विषय माना है। वैशेषिक-दर्शनकार इसे
।) गुण मानते हैं।

'रूपं' शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी'।

(अमरकोश १। ५। १६)

सांख्यकार इसे पञ्चतन्मात्राओंमें एक तन्मात्रा और बौद्ध-
कार रूपको पाँच स्कन्धोंमें पहला स्कन्ध कहते हैं।
दर्शनमें इसको एक उपाधि नामसे उद्घोषित किया है,
। 'रूप' सोलह प्रकारका होता है—"ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल,
, वृत्त, शुक्र, कृष्ण, नीलारुण, रक्त, पीत, कठिन, चिक्कण,
, पिच्छिल, मृदु और दारुण।

शील वा शील—उत्तम-स्वभाव, चाल-व्यवहार, वृत्ति, चरित्र,
आचरण, अच्छा चाल-चलन आदि-आदि ······· ।

बौद्ध-शास्त्रकारोंने 'शील' के हिंसा, स्तेन, व्यभिचार, मिथ्या-
, प्रमाद, अपराह्न-भोजन, नृत्य-गीतादि, माला-गन्धादि, उच्चासन-
, द्रव्य-संग्रह और इन सबका त्याग इत्यादि दस प्रकार माने हैं।
कहीं 'पञ्चशील' भी कहे जाते हैं, पर यह शील छः या दस
ताओंमेंसे एक है, जो कि तीन प्रकारका कहा जाता है—
, कुशल-संग्राह और सत्त्वार्थ-क्रिया।

(हिंदी-शब्द-सागर ३३३१)

'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते सस्ये हेतुकृते फलम्।
अर्थात्—सुस्वभाव, प्रकृति, अच्छा यश आदिको ही "शील"
। हैं।

शुचौ तु चरिते "शीलम्" ... ...।

(अमरकोश १।७। र

लावन्य (लावण्य)—नमकीन, अत्यन्त सुन्दर, द्वना
सबै—सबका, सम्पूर्णका बहुवचन । गुन आगरी—गुणोंकी खा
समूह । गुण—वह धर्म या भाव अथवा सिफत जो किसी वस्तु
साथ सम्बन्धित हो—लगी हो ।

'सांख्यकार तीन गुण मानते हैं, सत्व, रज और तम।
तीनोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं । जिससे कि सृष्टि उ
होती है—विकसित होती है । सतोगुण हल्का और प्रकाश क
वाला, रजोगुण चञ्चल व प्रवृत्तिकर तथा तमोगुण भारी अ
रोकनेवाला कहा जाता है । इन तीनों गुणोंका यह स्वाभावि
धर्म है कि वे परस्पर एक दूसरेको दबाते हुए अपना-अपना प्रभा
दिखाते और एक दूसरेके आश्रयमें रहते, एक-दूसरेको उत्पन्न कर
रहते हैं । जिससे जाना जाता है कि सांख्यमें गुण एक प्रकारका
द्रव्य है—तरल पदार्थ है, जो विविध धर्मोंसे धूसरित है और
जिससे विविध पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं । विज्ञान-भिक्षुका अभिमत
है कि जिससे आत्माके बन्धनार्थ महत्तत्व आदि रमणीय रज्जु तैयार
होती है उसीको सांख्यकार "गुण" कहते हैं । वैशेषिक गुण
द्रव्यके आश्रित मानते हैं और उसकी परिभाषा इस प्रकार लिख
हुए कहते हैं कि—'जो द्रव्यमें रहनेवाला हो, जिसमें कोई गुण न
हो और जो संयोग-विभागका कारण न हो उसे "गुण" कहा जात
है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और
ये मूर्त्त-द्रव्योंके गुण हैं । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,

अधर्म, भावना और शब्द—ये अमूर्त-द्रव्यके गुण हैं। संख्या,
ण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, मूर्त और अमूर्त दोनों द्रव्योंके
हैं। यह गुण दो प्रकारका होता है—विशेष और सामान्य।
रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख,
द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये 'विशेष' गुण हैं
(इनसे द्रव्योंमें भेद माना जाता है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व,
, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक-द्रवत्व और वेगादि
न्य' गुण हैं। द्रव्य स्वयं आश्रय हो सकता है, पर गुण स्वयं आश्रय
हो सकता। कर्म संयोग-विभागका कारण होता है। किंतु "गुण"
गुण—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छहोंको
ति शास्त्रकी परिभाषामें "गुण" ही कहा जाता है। यथा—

सन्धिर्नोविग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः।
षड् "गुणाः"........................ ॥

के अनुसार धनुषकी डोरीको भी गुण कहते हैं, यथा—

मौर्वी ज्या शिञ्जिनी "गुणः" (अमरकोश)

गरी, रूप[1], सील, लावन्य और गुन-आगरीके सरस-प्रयोग।

"अरी "भज-आगरी" प्यारी, दैजा मेरौ दाँन।"
—परमानन्ददास

"रूप" अनोखौ पाइकैं को करति है माँन-गुमाँन।"
—कृष्णदास

---

[1] नंददासजीने "रूप" शब्दका व्यवहार इस "भ्रमरगीत" में ही
, १, १८, २१, २४, २८, २९, ३९, ४२ और ७५ नम्बरके छंदोंमें
रूपसे किया है सही, पर अपनी "रास-पञ्चाध्यायी" जैसा नहीं, जैसे—

'मंद परसपर हँसी, लसीं, तिरछी-अँखियँन अस।
"रूप"—उदधि इतराति, रँगीली-मीन-पाँति जस॥

"सील" सँकोच न त्यागिहे प्यारे ··· ···।"

—परमानन्ददास

"कहि न सकति "लावन्यता" कीरति-राज-कुमारि।"

—चाचा वृन्दावन

"छबीली-नागरी, "गुन-आगरी" मेरो मन मोहि लियो।"

—सूरदास मदनमोहन

प्रेम-धुजा, शुद्धरूप—प्रेमध्वजा—प्रेमकी ध्वजा, अर्थात् प्रेम करनेवालोंमें अग्रगण्य, अगाड़ी गिनी जानेवाली।

प्रेम-धुजा (प्रेमध्वजा) पर कुछ इसी भावको—नन्ददासजीकी इसी सौन्दर्यमय सूक्तिको, परमानन्ददासजीने बड़ी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया है—

गोपी प्रेम की धुजा।
जिन्ह गुपाल किए अपने बस, उर धरि स्याम-भुजा ॥
सुक-मुनि व्यास प्रसंसा कीन्ही, ऊधौ-संत सराँही।
भूरि-भाग गोकुल की बनिता, अति-पुनीत भुव माँही ॥
कहा भयौ विप्र-कुल जनमैं, जो हरि-सेवा नाँही।
सोइ कुलीन 'दास परमानँद', जो हरि सनमुख जाँही ॥'

हमारे मनतरंग [illegible] भारतेन्दुजी भी यही कहते हैं—

नारद, सारद से अति ग्यान, सुकदेव,
मुनिन मनावत [illegible] कीन्ही चौह जन की।
'हरिचंद' प्यारे के प्रवीने प्रेम [illegible],
[illegible] प्रेम [illegible] जन की ॥
[illegible] लिखी,
[illegible] बन की।

मन मौं मैहल ताके कलस कन्हैंयाँलाल
प्यारी-प्रभा गोपिका 'धुजा' है प्रेम-रस की ॥

रस-रूपनी—रस-स्वरूपिणी, अर्थात् रसों की साक्षात् मूर्तियाँ। —रस नौ प्रकारके माने जाते है। यथा—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥
(साहित्यदर्पण ३। १८२)

अर्थात्—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स ...द्भुत और शान्त आदि। कोई-कोई शान्तको प्रगामकर केवल आठ ही मानते हैं।

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

अथवा—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु यतः कंचिन्न रसं स्वदते नटः ॥
(सङ्गीतरत्नाकरे ७। १३-७०)

कुछ लोग 'वात्सल्य'-रस 'लौल्य-रस' और कार्पण्य-रसके ...थ 'भक्ति-रस' को भी इन नौ रसोंमें ही जोड़ते हैं।

वैद्यक-ग्रन्थ रस छः मानते हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, ...क और कषाय। सुश्रुत-अनुसार जो पदार्थ मनुष्य खाता है उससे ...रसरूप जो पहले सूक्ष्म-सार बनता है वह भी 'रस' कहलाता ...। रस आनन्दको, मजेको भी कहते हैं। विहार, केलि, काम-

'पिय-दरसन, स्रवनादि तें, होइ जो हिएँ प्रमाद ।'

—देव

तु 'सुख' इस तरह आकस्मिक रीतिसे नहीं होता; क्योंकि
ी अपेक्षा अधिक स्थायी—देरतक ठहरनेवाला होता है ।
कारकी चिन्ता, कष्ट आदिसे अलग रहनेपर तथा अनेकानेक
की परितृप्ति होनेपर मनमें जो प्यारी-प्यारी अनुभूतियाँ अलङ्कृत
वास्तवमें देखा जाय तो वही सुख है । अतः इस सुखको
नुभावोंने मनका और कुछ लोगोंने आत्माका अनुगम धर्म
न्याय और वैशेषिक मतानुसार सुख आत्माका 'गुण' है जो
का है—नित्य-सुख और जन्य-सुख । सांख्य और पतञ्जलिके
'सुख' प्रकृतिका धर्म है, जिसकी उत्पत्ति सत्त्वोंसे होती
भी तीन प्रकारका 'सुख'—सात्त्विक, राजस और तामस
नती है । सात्त्विक सुख ज्ञान, वैराग्य और ध्यानादिसे,
सुख विषय तथा इन्द्रियोंके संयोगसे और तामसिक सुख
और उन्मादसे उत्पन्न होता है; किंतु कोशकार 'हर्ष' को
मानते हैं—

सुद् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदाः ।
स्यादानन्दथुरानन्दशर्मशातसुखानि च ॥

(अमरकोश १ । ५ । ३)

र-स्याँम-बिलासनी—श्याम-सुन्दरके साथ विलास करनेवाली,
ला करनेवाली, खेलनेवाली । 'सुंदर-स्याम' श्रीकृष्णका नाम

किया है। विलास का विलास—खेल, क्रीड़ा, कौतुक, भोग, सुख आनन्द।

'स्त्रीणां विलासबिब्बोकविभ्रमा ललितं तथा।'
(अमरकोश १।७।३१)

नव-वृंदाबँन-कुंज—नयी, नूतन, नवीन-श्रीवृन्दावनकी कुंज। वृंदावन—तुलसीका वन, कुंज—लतादिसे ढका हुआ स्थान।

रस-रूपनी, उपजावनि, सुख-पुंज, सुन्दर-स्याँम-विलासनि, वृन्दावन और कुंजके सरस प्रयोग—

'रस-रूपनी' प्यारी ! मोकूँ इत हेरौ सुख-सोरि।'
—गदाधर

'सुख' 'उपजावनी' राधे ऐसौ न कोऊ मान।'
—ललितकिशोरी

'वृंदाबँन', निरखौ कबै जहँ 'कुंज-कुंज' 'सुख-पुंज।'
—नागरीदास

'सुंदर-स्याँम' सुजाँन सिरोमनि, देहुँ कहा कहि गारी हो।'
—गदाधर भट्ट

(२)

स्याँम-संदेश—श्यामका संदेश, समाचार, हाल-चाल, खबर, संवाद। संकेत—इशारा, निर्दिष्ट-स्थान। औसर—अवसर, समय। इकठौंउ—एक-ठौंर, एक जगह एकत्रित। मधुपुरी—'मथुरा' का प्राचीन नाम।

श्रीशुकने 'मथुरा' का वर्णन श्रीमद्भागवतमें बड़ा सुन्दर किया है—

अथापराह्णे भगवान् कृष्णः संकर्षणान्वितः ।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः ॥
ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥
सौवर्णशृंगाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै-
र्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥
आपूर्ण-कुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भा क्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलंकृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ४१ । १९, २०, २१, २२)

संदेस, संकेत, औसर, ठाँउ और मधुपुरी आदि शब्दोंके
—

'गोपी ! सुनौ हरि—संदेस' ।'
—सूरदास

'सखी री मैं, ना जानौं 'संकेत' ।'
—कृष्णदास कटहरिया

'मन ! पठिवैहौ "भौंरा" भेजै।'

—सूर

[illegible] 'हूकरौंड'।'

—[illegible]

[illegible] 'मधुपुरी'।'

—[illegible]

श्रीनन्ददासजीकी इस उक्तिपर रसरूपजीके दो छन्द बरबस याद आ जाते हैं—

उद्धवमवलोक्य गोपाङ्गना उवाच

'कहा नाम, आए कहाँ, किहि पठयौ किहि काज।
जाचक हौ, को हौ, अहो ! परम-साधु के साज॥'

उद्धव उवाच

'संगी हैं, सलूकी हैं, सलाही हैं, सँकोची साधु-
सिस्य हैं, सुसील हैं, सुपात्र हैं, सुदेसी हैं।
सुखी हैं, सँतोखी हैं, सप्रेम हैं सनेम सदौं-
साँचे सीन-साफ़ सपने हूँ न अँदेसी हैं॥
'रसरूप' सुनिएँ सुचित्त ह्वै कैं सावधान-
सबन सौं कहिए समीप सब बैसी हैं।
सेवक हैं, सखा हैं, सयाँन-सुभचिंतक हैं,
सूधौ 'ऊधौ' नाम-साँच स्याँम के सँदेसी हैं॥
'बाँनी कौं बढ़ाइ करि, सब कौं सुनाइ करि,
कहैंगे बुझाइ करि, जैसी जहाँ चहिए।
गयौ सब सोग, भयौ आनँद कौ जोग-
जोग कीजिए बजाइ कैं वियोग तें न दहिए॥
'रसरूप' कौन जानैं कौन हिएँ कैसी लगै-
न्यारौ बिसेस यातें जीभ सैं न कहिए।
मन हीं में सहिए वह मौन गहि रहिए जो-
माँनिएँ तौ कहिए न माँनौं राह गहिए॥'

'गोपियोंकी प्रेम-व्यवस्था'

कवि-कथन

स्याँम–भगवान् श्रीकृष्णका नाम-विशेष जो उनके शरीरके काले रंगके कारण पड़ा था।

भगवान्के इस 'नीलोत्पल-दल-स्याँम' स्वरूपपर कवि-कोविदोंने बड़ी-बड़ी उड़ानें उड़ी हैं,—अनोखी फबतियाँ कसी हैं। कोई आपके श्याम-स्वरूप होनेका कारण बतलाता हुआ कहता है—

> "जसोधा नें कारी-अँधेरी में जायौ।
> जासों 'कारौ-कृष्ण' कहायौ''''''॥"

—कोई कवि

अथवा—

> 'कजरारी-अँखियान में बस्यौ रहत दिन-रात।
> पीतम-प्यारौ हे सखी, ता तें 'साँवर-गात॥'

—नागरीदास

क्योंकि—

> 'गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम्ह कित स्याँम सरीर।'

—सूरदास

अथवा—

> "गोरे श्री नँदराइजू, हो गोरी-जसुमति माइ।
> तुँम्ह याहीं तें साँवरे लाला, ऐमे लच्छिन पाइ॥"

—हरिरायजी

रघुनाथ कवि कहते हैं—

> 'कछौ कछें पट-पीत कौ सुंदर, सीस धरें पगिया-रँग-राती।
> हार गरें बिच गुंजन कौ, झलकें छिति-छोरन लौं छहराती॥

खेलत ग्वालन-सँग 'रघुनाथ' औ डोलें गलीन-मद्दा उतपाती।
जौ रँग-साँवरो हो तो न ईठि, तौ काहू की डीठि कहूँ लग जाती॥'

गोविन्द-स्वामी कहते हैं—

'रसमसे नंद-दुलारे ? आए हौ उठि भोर।
अरुन नैंन, बैंन अटपटे, भूषन दिखयतु जहँ-तहँ अधरन रँगभारे॥
कित अब वाद करत गुसाँई ? जहाँ जावौ जाके प्रान-प्यारे।
'गोविंद' प्रभु पिय भलें जु भलें आए, जान पाए, जैसे 'तनस्याँम, तैसेई मन-कारे॥

यहाँतक तो खैर भी ! अब 'स्याम' रंगकी दूसरी करामात देखिये—

'या अनुरागी-चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याँम-रँग, त्यौं-त्यौं उजल होइ॥'

—बिहारी

बेनी-प्रवीन कहते हैं—

'भोर हीं आवत नंद-किसोर, बिलोकति ही ललनाँ उठि दौरी।
'बेंनी प्रवीन' दोऊ कर सों गहि गाढ़े कै लागि गई लड़बौरी॥
आनँ कहा ए अजानी सबै, मैं दिखाइहौं ले सखियान कों भौरी।
साँवरे-रंग रगें हरि रावरी, साँवरी ह्वै गई पीता-किसोरी॥'

एक और—

'न्हात-हीं-न्हात निहारे हीं स्याँम ? कलिंदियौ स्याँम भई बहुतै है।
धोर्में हूँ धोइ हीं या मैं कहूँ तौ, यहै रँग सारिन हूँ सरसै है॥
साँवरे अंग कौ रंग कहूँ, इहि मेरे सुअंगन में लगि जैहै।
छैल-छबीले छुऔगे जु मोंहि, तौ गातँन मेरे गुराई न रैहै॥

—कोई कवि

यौं—शुद्ध स्मरण ''श्याम'' अथवा ''श्यामा'' ''श्यामा''का गुप्त जिसका कि अर्थ ''श्री'' होता है।

'नवल त्रिभंग कदम-तर ठाड़ो मोहत सब ''ब्रज 'धाँम ।'

—सूरदास

धाँम—चौंए और टेढ़ेको भी कहते हैं। जैसे—

'बाम-बाहु' फरकति मिलें जौं हरि जीवन-मूरि ।
तौ तोही सौं भेंटि हौं, राखि दाहिनी दूरि ॥''*

—विहारी

'विधि हूँ भयौ जु ''धाँम ।' —श्यामजी

उर्दूमें 'बाँम'का अर्थ—अटारी, कोठा, मकानके ऊपरवाली छत, घरका सबसे ऊपरवाला भाग, अथवा घरकी चोटीको कहते हैं, जैसे—

'तमाम रात हुई, कर गया किनारा चाँद ।
बस उतरौ ''बाम'' से तुम जीते और हारा चाँद ॥'

'तूर पर जैसे किसी वक्त में चमकी थी झलक ।
कुछ सरे ''बाम'' से वैसा ही उजाला निकला ॥'

'बाम'' पर नंगे न जाओ तुम सबै महताब में ।
चाँदनी पड़ जायगी, मैला बदन हो जायगा ॥'

घर—गृह, मकान, वासस्थान । सुध—याद, स्मरण, चेत, । आँनद या आनन्द—ह्लाद, हर्ष, प्रसन्नता, खुशी, सुख, आह्लाद ।

---

* विहारीके इस दोहेपर एक ऐसी ही भावभरी यह 'आर्या' भी है, यथा—

'प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः ।
प्रियसङ्गमाय स्फुरितां वियोगिनी 'वाम'बाहुलताम् ॥'

—आर्या सप्तशती ।

मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः।
स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मशातसुखानि च॥
(अमरकोश १।४।

हिये — हृदय, अन्तःकरण, मन, चित्त, [illegible] कलेजा। हृदय, छातीके भीतर [illegible] बाँयी ओर स्थित मांस[illegible] या धौंकनीके आकारका एक भीतरी अवयव है जिसमें स्पन्दन हो[illegible] रहता है और उसमें होकर शुद्ध रक्त नाड़ियोंद्वारा सारे शरीरमें सं[illegible] किया करता है।

चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः।
([illegible]

प्रेम या प्रेम—प्रीति, अनुराग, स्नेह, प्रणय, मुह[illegible] प्यार, माया।

"प्रेम्णा प्रियता हार्द 'प्रेम' स्नेहोऽथ दोहदम्।"

यों तो 'प्रेम' शब्दका अर्थ—उसकी परिमित परिभाषा अ[illegible] तक न बनी, क्योंकि—स्वर्गीय श्रीसत्यनारायणजीके—

"उलटा-पलटी करहु निखिल-जग की सब भाषा।
मिलहि न पै कहुँ एक, प्रेम-पूरी परिभाषा॥"

क्योंकि प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है, अर्थात् कहनेमें न[illegible] आ सकता—गूँगेके गुण-जैसा है, अनुभवसिद्ध है।

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं······मूकास्वादनवत्"
(नारदभक्तिसूत्र ५१, ५२)

यही श्रीसत्यनारायण कहते हैं

"जानत सब कछु प्रेम-स्वाद मुख-बरनि न आवै।
जदपि परम-वाचाल मूँक ज्यों भाव बतावै॥
विद्या-बल तत्वनि के भेद, प्रभेद, बताएँ।
गूँगे कौ गुर-खाइ, जगत बैठ्यौ सिर नाएँ॥"

उर्दूके शायर भी प्रेमके—इश्कके विषयमें कुछ न बतलाते हुए वही बेबसीका ढोल पीटते हैं—

शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफ़ता।
एक आग-सी है दिलमें हमारे लगी हुई॥

—ग़ालिब

मीर कहते हैं—

"हम मीरे इश्क़ से तो वाकिफ़ नहीं हैं लेकिन।
सीने में कोई जैसे, दिल को मला करे है॥"

एक और शायर साहब फ़र्माते हैं—

"इश्क़ो-मुहब्बत क्या जानूँ, लेकिन इतना मैं जानूँ हूँ॥"
"अंदर-ही-अंदर सीने में, मेरे दिल को कोई खाता है॥"

लेकिन फिर भी प्रेमकी परिभाषाएँ चाहे वे अधूरी ही हैं, किसी-न-किसी रूपमें मिलती ही हैं। सबसे प्रथम 'भक्ति-सूत्र' में प्रेमकी परिभाषा करते हुए श्रीनारद मुनि कहते हैं—

"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमान-
मविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।"

(नारदभक्तिसूत्र ५४)

अर्थात्—प्रेमका स्वरूप गुण और कामनाओंसे रहित,

प्रतिक्षण बढ़नेवाला, एक-रस, अत्यन्त-सूक्ष्म, केवल अनुभवगम्य है। जैसे—

> "बिन गुन जोबन रूप धन, बिन स्वारथ हित जाँन।
> सुद्ध-कामना तें रहित, प्रेम सकल रस-खाँन॥
> अति सूच्छम, कोंमल अतिहि, अति पतरौ अति दूर।
> प्रेम कठिन सबतें सदाँ,—नित इक रस भरपूर॥"
> "इक अंगी, बिन कारनें, इक रस सदाँ समान,।
> गनें प्रियहिं सरबस्व जो, सोई प्रेम-प्रमान॥"
> "रसमै, स्वाभाविक, बिना-स्वारथ, अचल, महाँन।
> सदाँ-एकरस, सुद्ध सोइ, प्रेम अहै "रसखाँन"॥"

भक्ति-रसामृत-सिंधुके कर्त्ता कहते हैं—

> "सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
> भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥"

अथवा—

> "दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
> यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते॥"

करुण-रसाचार्य्य महाकवि श्रीभवभूतिजी अपने 'उत्तर राम-चरित' नाटकमें प्रेम चित्राङ्कण करते हुए कहते हैं—

> "अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्-
> विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
> कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
> भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥"

अर्थात्—स्वर्गीय कवि श्रीसत्यनारायणजीके शब्दोंमें—

"मुख-दुख में नित एक हृदय कौ प्रिय-बिराम-थल।
सब बिधि सों अनुकूल, बिसद-लच्छनमय अबिचल॥
जासु सरसता सकै न हरि कबहूँ जड़ताई।
ज्यों-ज्यों बाढ़त सघन, सघन सुंदर सुखदाई॥
जो अवसर पर संकोच तजि, परखत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुरलभ सज्जन प्रेम अस, बड़भागी कोऊ लहत॥

कबीर-साहब फरमाते हैं—

"छिन हिं चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तौ प्रेम न होइ।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोइ॥"

सच-बात तो यह है कि प्रेमकी कोई ठीक-ठीक परिभाषा हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रेम ईश्वरमय है—ईश्वर ही है, अथवा ईश्वर ही प्रेम है। जैसे—

"नित्त विचारतु जोग रखत उपदेस यही उर।
परमेसुर-मै प्रेम, प्रेम-मय नित परमेसुर॥"

अथवा—

"प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यों सूरज औ धूप॥"

—रसखान

यही बात हजरत 'मीर' फर्माते हैं—

तू न होवे तो नज़्म कुल उठ जाँय।
सच्चे हैं शायराँ, ख़ुदा है इश्क़॥

अस्तु, परम-शुद्ध और विस्तृत अर्थमें ...
स्वरूप है, इसलिये अधिकांश धर्मोंके अनुसार प्रेम ...

ही प्रेम —अथवा प्रेम ही परम धर्म माना जाता है—माना है और यही भक्तिका परमोत्कृष्ट स्वरूप समझकर मोक्ष-प्राप्तिका साधन बतलाया जाता है। यों तो सत्-शास्त्रकारोंने, अथवा साहित्य-सृजेताओंने प्रेमके अनेकानेक भेद-विभेद विभूषित हैं, पर मुख्यतम रूपसे—उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् ये तीन भेद ही कहे हैं। उर्दू-साहित्य-सम्राटोंने इस इश्क़के दो ही भेद माने हैं—मजाज़ी और हक़ीक़ी। अस्तु,

> "प्रेम-समुद अथाह है, बूड़ें मिलै न अंत।
> तेहि समुद्रमें हौं परा, तीर न मिलत तुरंत॥"
>
> —नूरमुहम्म

अथवा—

> "हविसे-दीद मिटी है न मिटेगी 'हसरत'।
> देखने के लिये चाहे उन्हें जितना देखो॥"

भारतीय प्रेम-परिभाषा जहाँ उसे ईश्वरका रूप ही मानती है, वहाँ उससे इतर देशोंने प्रेमकी परिभाषा निम्नप्रकारसे की है। यथा—

१. अमरीका—"खूबकर प्यार, खूब कोड़ेमार।"

२. अरब—"प्रेम सात सेकंड, कल्पना सात मिनट और अप्रसन्नता जीवनभर टिकती है।"

३. आयर्लेंड—"एक पुरुष अपनी प्रेयसीको सबसे अधिक, पत्नीको सबसे अधिक अच्छी भाँति और माँको सबसे अधिक समय-तक प्यार करता है।"

४. आयर्लेंड—"सभी पुरुषोंसे प्रेम करो, मुख्तारको छोड़कर।"

५. इंग्लैंड—"सूप (एक प्रकार मांससे बना पेय) और प्रेममे
थम (सूप) ही उत्तम होता है।"

६. इंग्लैंड—"वह बिल्कुल प्रेम नहीं करता, जो जानता है कि
न्त किस प्रकार किया जाता है।"

७. जर्मनी—"प्रेम दृष्टिको छीनता है, विवाह पुनः प्रदान
रता है।"

८. जापान—"प्रेमीकी दृष्टिमें चेचकके दाग, गालोंमें पडनेवाले
न्दर गढे होते हैं।"

९. डेन्मार्क—"यदि सोना बरसे तो भी प्रेमी कभी धनी नहीं
गा।"

१०. फ्रांस—"बिना ईर्ष्याके कहीं प्रेम नहीं होता।"

११. फ्रांस—"पुराना प्रेम और पुराने कोयले जल्दी आग
कड़ते हैं।"

१२. फिजिशयन प्रदेश—"बचपनका प्रेम अधूरा और बूढ़ा प्रेम
टा होता है।"

१३. मिश्र—"प्रेमीका प्रहार उतना ही मधुर होता है, जितना
किसमिस खाना।"

१४. पोलैंड—"प्रेम पुरुषकी आँखोंसे और स्त्रीके कानोंसे प्रवेश
रता है।"

१५. पोलैंड—"जो बहुत प्यार करता है, वही बहुत मारता है।"

१६. रूस—"प्रेम और अंडा ताजा ही स्वादिष्ट होता है।"

१७. लैटिन-प्रदेश—"प्रेमी, पागल।"

१८. बाल्टिक-प्रदेश—"प्रेमको शीरेकी भाँति फैलाया जा सकता है।"

१९. स्काटलैंड—"किसीकी प्रेमिका कुरूप नहीं होती।"

२०. स्पेन—"प्रेम मोचकी भाँति होता है जिसकी पुनः अधिक सरलतासे हो जाती है।"

२१. स्वीडन—"प्रेम या पाजामामें लगी आगको छिपाना सहज नहीं होता।"

२२. हंगरी—"स्वप्नों और प्रेममें कुछ भी असम्भव नहीं।"

२३. कोई—"प्रेमकी जीभ उसकी आँखोंमें होती है।"

बेली—शुद्ध स्वरूप बेल, बेलि, या वल्ली और वनस्पति-शास्त्रके अनुसार वे छोटे-छोटे तथा कोमल पौधे जिनमें कोई या मोटे-तने नहीं होते और अपने सहारे ही ऊपरकी ओर उठते हैं, पर वह नहीं सकते। इसीसे इसे लता व वल्ली कहते हैं।

"अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ वल्ली तु व्रततिर्लता।"
(अमरकोश २।४।९)

साधारणतः बेल दो प्रकारकी होती है। एक वह जो अपने उत्पन्न होनेके स्थानसे आसपासके वृक्षों तथा अन्य तरह किसी अन्य सहारे द्वारा फैलायी चढ़ाई जाती है। दूसरी वह कि आसपासके वृक्षों अथवा उसी प्रकारके किसी सहारे ... ऐसे उनके सहारे और भूमिपर ही ऊपरकी ओर ...

अर्थात्—

"अपूरब-भक्ति यह तुम में ही देखी मैंने ऐ—बाला ।
कदम-सा खिल गया तन लेते ही परसाद की माला ॥"

—देवीप्रसाद "प्रीत

कंठ-घुटयौ—कण्ठ, अर्थात् गला। घुटयौ—घुटा, मुँदा—बं
अथवा कण्ठ-घुटना—गलेसे आवाज न निकलना। गद्गद-गिरा-
गद्गद, अत्यन्त हर्ष, प्रेम, शोक, श्रद्धा आदिके कारण—अ
उसके आवेगसे इतना पूर्ण कि अपने आपेको भूल जाय और स
शब्दका उच्चारण न कर सके। गिरा—वाणी, वचन। बोलने
वह शक्ति जिससे मनुष्य बातें करता है। बैन—वचन, बोली
शब्द, बात, कथन। बिवस्था, या व्यवस्था—किसी कार्यका व
विधान जो कि शास्त्र-द्वारा निश्चित या निर्धारित हो।

स्यौंम, धौंम, घर, सुधि, आनँद, हदै, प्रेम, पेरी, हुम,
पुलकि-रौंम, गद्गद-गिरा और बैन—शब्दोंके सरस प्रयोग। यथा—

"मोहन ओढ़ै पीत-पट 'स्यौंम' सलोने-गात।"

—बिहारी

"बेरि लिउ सब सखा सयाने, जान न पावैं "धौंम"।"

—[illegible]

"आज 'घर' मंगलचार—बधाए।"

—[illegible]

"सुधि" न रहत कछु की……….।"

[illegible]

"हर "आनँद" बनि ही बरसी, गुपन सब पीड़ बैन।"

—[illegible]

"हृदै" की कामों कहौं मैं पीर।" —ललित-माधुरी

"प्रेम" करि काहू सुख न लह्यौ।" —सूरदास

"श्रीवृंदावन फूलि रही अति—"बेली"।" —रसिक किशोरी

"जमुना-पुलिन-कुंज गह्वर की-
कोकिल है "द्रुम" कूक मचाऊँ।" —ललित किशोरी

"पुलकि-रोम" सब अँग-अँग प्रगट, कछु छवि ऐसी देत।
अँकुर उठे प्रेम के मानौं, सरस हेम के खेत॥"

—परमानन्ददास

"तब बोली ब्रजबाल, लाल मोहन अनुरागी।
सुंदर "गद्गद-गिरा", गिरधरहिं मधुरी लागी॥"

—नन्ददास

"सुन केवट के "बैन" प्रेम लपेटे अटपटे।"

—तुलसीदास

कुछ ऐसी ही प्रेम-व्यग्रस्थाका वर्णन श्रीशुक भी नन्द-बाबाकी [ओर]से) करते हैं, यथा—

"इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत् तूर्ष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥"

—श्रीमद्भागवत १०।४६।२७

अब इस प्रेम-व्यग्रस्थापर श्रीस्वर्गीय 'रत्नाकर' की भी बानगी [देखि]ये, यथा—

"धाँई धाम-धाम तें अवाई सुनि ऊधव की,
बाम लाख-लाख अभिलाषनि सों म्वै रहीं।
कहै "रतनाकर" पै विकल बिकलि तिन्हैं—
सकल करेजौ थाँमि आपुनपौ ख्वै रहीं॥

छेखि निज-भाग लेखि रेखि तिन आँनन की,
जाँनन की ताहि आतुरी सों मन ध्वै रहीं।
आँस रोकि, साँस रोकि, पूँछन-हुलास रोकि,
मूरति निरास की-सी आस-भरी ध्वै रहीं॥"

अथवा—

"भेजे मन-भावन के ऊधव के आवन की—
सुधि ब्रज-गाँवनि में पावनि जबै लगीं।
कहै "रतनाकर" गुवालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं॥
उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै—
पेखि-पेखि पाती, छाती छोहन छबै लगीं॥
हम कौं लिख्यौ है कहा! हम कौं लिख्यौ है कहा!
हम कौं लिख्यौ है कहा! कहँन सबै लगीं॥"*

एक और—

ऊधौ! 'आए-आए, हरि कौ सँदेसौ लाए—
सुनि गोपी-गोप धाए मन धीर ना धरति हैं।
बौरी बनि दौरीं उठि भौरी लौं भ्रमत मन,
सुन मन भनौं पुन-छोह बिहरति हैं॥
है गई बिकल-बाल बालम बियोग भरी,
जोग की सुनत बात आग ज्यौं जरत हैं।
मारे भए भूषन, सम्हारे न परत अंग-
आगे कौं चलति पग पाछे कौं परति हैं॥
—[illegible]-प्रेम पीयूष प्रवाह।

* [illegible]

यथा—

"पाती, मधुबन ही तें आई।
सुंदर स्याम-कीन्ह लिखि पठई, आइ सुनौ री माई !
अपने-अपने गृह ते दौरीं, लै पाती उर लाई।
नैननि निरखि निमेष न खंडित प्रेम बिथा न बुझाई॥
कहा करौं सूनौं यह गोकुल, हरि बिनु कछु न सुहाई।
'सूरदास' प्रभु कौन चूक तें, स्याम, सुरत बिसराई॥

मान-संमानांतर

कथोपकथन

(४)

अर्घ्यासन—अर्घ और आसन, सम्मानार्थ जलसे अभिसिंचन, देवदेवता-पूजामें प्रथम उपस्करण, जल, दूध, कुशाग्र, दही, सरसों और तन्दुल तथा यव आदि मिलाकर देव-विशेषको अर्पण करना। सामने जल, पानी मिलना। मोल आदि—

"मूल्ये पूजाविधावर्घः अंहो दुःखव्यसनेष्वघम्।"
—अमरकोश १।१।२०

आसन—पूजनके समय बैठनेका अथवा किसी भद्र पुरुषके सम्मानमें बिठानेके लिए देनेकी वस्तुको आसन कहा जाता है। पीठ, पीढ़ा, चौकी, हाथीका कंधा, राजा का सिंहासन, आसन प्रतिष्ठित अवस्था, कुश का बना हुआ बिछाने योग्य वस्त्र-विशेष।

"भेण्डुकः वस्तुके पीठः मर्दितः पीठमासनम्।"
—अमरकोश १।१।४०

अथवा—

'आसनं' स्कन्धदेशः स्यात्..........।'

—अमरकोश २। ८। ७

वैसे तो योग-शास्त्रानुसार तथा कामशास्त्रानुसार आसन चौरासी प्रकारके कहे जाते हैं, पर अष्टाङ्ग-योगके तीसरे-अङ्गानुसार "आसन" पाँच प्रकार माना जाता है, जैसे कि "पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन" । प्रकारान्तरसे—पद्मासन, सिद्धासन, गरुड़ासन, कमलासन और मयूरासन भी कहे जाते हैं' आदि............ ।

परिकंमा—परिकरिमा वा परिक्रमा, अर्थात् किसी वस्तु वा देवताके चारों ओर घूमना, फिरना, चक्कर लगाना । *स्याँम-सखा*—श्यामका सखा, मित्र, बन्धु, साथी, संगी आदि........ ।

वयस्यः स्निग्धः सवयाः अथ मित्रं सखा सुहृत् ।

—अमरकोश २। ८। १२

निज—अन्तरङ्गीय, आत्मीय, स्वकीय, खास, प्राईवेट, मुख्य, प्रधान । *हित*—हितसे, प्रेमसे । *सेवा*—शुद्ध सेवा, किसीको आराम पहुँचानेकी क्रिया, यानी टहल, खिदमत, परिचर्या । *बूझत*—पूछत । *नँद-लाल*—नंदके लाल, प्यारे बेटे, लड़के, । *नंद*—गोप जातिके एक प्रमुख सरदार, नेता, राजा, जिनके यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने बाल-क्रीडा की थी ।

कहते हैं—नन्दबाबाके पिताका नाम 'पर्जन्य' और 'माता' का नाम 'वरीयसी' था और इनके पाँच भाई जैसे—

"उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सुनन्द और नन्दन तथा दो बहिनें "नंदनी और सुनंदा" थीं, जो "धीन" और "सुपक्षम" नामक एक प्रतिष्ठित गोपको व्याही गयी थीं। नन्दजीके बड़े भाई उपनन्दजीकी दो संतानोंका उल्लेख मिलता है—कन्या "स्याम देवी, जो श्रीकृष्णके ही समतुल्य रूप-रंगमें थी और पुत्र श्रीकृष्ण जो श्रीनन्दबाबा—द्वारा गोदमें बैठाये जानेके कारण आपके पुत्र कहलाये थे। उपनन्दसे छोटे अभिनन्दके "सुबाहु" नन्दबाबाके भगवान् श्रीकृष्ण, सुनन्दके "सुकल" और नन्दनके तोर वा तोक नामके पुत्र थे। श्रीनन्दबाबाका वर्ण गौर था और केशराशि कुछ काली और कुछ सफेद मिली हुई थी। तोंद कुछ बड़ी, छाती ऊँची और पेशानी विस्तृत थी तथा कपड़े नीले रंगके पहिरा करते थे। आपकी स्त्रीका नाम श्री "यशोदा" था। जो कि शरीरसे स्थूल व रंग कुछ साँवला-सा था और कपड़े सदा पीले रंगके पहिना करती थीं, श्रीयशोदा-मैयाका दूसरा नाम "देवकी" भी मिलता है। श्रीनंदबाबाको भाइयोंसे हिस्सेमें नौ लाख गौएँ मिली थीं, पर थीं इनके—बहत्तर करोड़। उपनन्दजीने और अभिनन्दजीने क्यों राज्य नहीं किया इसका कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता—कहीं भी इसका पता नहीं चलता, अस्तु श्रीनन्दराय यों ही राजा कहे जाते थे, अर्थात् व्रजराज वा व्रजरायके नामसे आप ही सम्बोधित किये जाते थे। आपके कुल देवता—नारायण, वेद शाम, शाखा कौथमी और हरिवंश पुराणानुसार वेद-यजुः, शाखा माध्यन्दिनी तथा कुल-पुरोहित शाण्डिल्य-ऋषि कहा जाता है। श्रीनन्दबाबाकी राजधानी गोकुल और नंदिग्राम थी आदि-आदि············।

"ईषद्विकसितैर्नयनैः स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम्।
किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः॥"
"मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम्।
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं (च) भवत्यतिहसितम्॥"
—साहित्यदर्पण ३। २१७, १८ १९

अर्थात्—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित। लेकिन—भाषा-साहित्य-सुजेता तीन प्रकारका ही हास मानते हैं, यथा—

"हँसनि फुलनि नहिं 'मंद' में, धुनि 'मद्धिम' में होइ।
बहु-हँसियौ 'अति-हास' में, हास तीनि-बिधि जोइ॥"
—रसप्रबोध

पण्डितराज जगन्नाथजीने अपने "रस-गंगाधर" में हासके उक्त छः भेद मानते हुए प्रथम—आत्मस्थ और परस्थ दो भेद और माने हैं, जैसे:—

"आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम्।"

नीके—नीके, अर्थात् अच्छे प्रकार, राजी-खुशी, भलीभाँति अच्छी तरह। बल-बीरजू—बल, बलदाऊ, बलदेवजी, बीर—भाई अर्थात् बलदाऊके भाई श्रीकृष्ण। बचन—शुद्ध वचन, वाणी, वाक्य, यथा—

"व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं 'वचनं' वचः।"

रसाल—रस-संयुक्त, रसभरे, रससे ओतप्रोत, सुन्दर, मनोहर, मीठे आदि-आदि ······ ।

अरघासन, बहुरि, परिकंमा, स्यॉम-सखा, हित, सेवा, नँदलाल, बिहँसति, ब्रज-ग्वाल, नीके, बलबीर, बचन और रसालके सरस प्रयोग! यथा—

'अरघासन' दै हित सौं जुवती, धनि धनि दिन यह आज,
'परमानँद' प्रभु गरजै आए हरखत श्रीब्रजराज ॥*
—परमानन्द

"आजु कुहू की राति, चलौ "परिकंमा" कीजै।
गिरि सनमुख निसि जागि, भोर बलि-पूजा दीजै ॥"
—ब्रज-जन

काल्हि "बहुरि" हम आइ हैं हो, गो-रस लै सब ग्वाल।"
—श्रीहरि

"ऊधौ! "स्याम-सखा" तुम साँचे।"
—सूरद

"हित" सौं बात करति सब-गोरी ॥"
—विट्ठल-विपु

मैं "सेवा" बस भयौ तिहारे;
जो फल बाँछौ लेहु सवारे।
—सूरदास

* कुछ ऐसा ही भाव श्रीसूरने भी एक पदमें व्यक्त किया है, जैसे—
"दै करि अरघ, लए भीतर तें, धनि-धनि कहि दिन आज।
धनि-धनि "सूर" उमँग-सुत आए, मुदित कहत ब्रजराज ॥"
—सूरसागर: भ्रमरगीत

"नाँचति "नँदलाल" संग प्रेम-सहित रास-रंग–
तात-थेई, ता-ता-थेई करति घोष नागरी।"

—कृष्णदास

जब "नँदलाल" चीर-गहि झटक्यौ, मन में बहुत डरी,

—कुंभनदास

"बिहँसति" बैठे अंकवारी भरि, भल्यौ बन्यों है दाउ।
"कहि भगवान हित रामराइ" प्रभु, राधा-रवन जाकौ नाउँ॥"

—हित भगवान

"जुरि आई "ब्रज-बाल", घेरि लए तबै कन्हाई।
भाजि न इत-उत जाहिं, गहौ अब सबै लुगाई॥"

—रामदास

"तू "नींकें" जानति री? रस की रीति।"

—हरनारायण श्यामदास

"चलै चलि री सखी? मोहि जमुना-तीर, जहाँ है हैं—
"बल-बीर" देखि-देखि दगन सिराऊँ।"

—नंददास

"धाई सब गहन कों, रस"बचन" कहन कों,
भाँमिनी बनी अति-छबि सुधारत चरन॥

—हित भगवान

"लाल-"रसाल" के बचन सुनि, कछु मुरि-मुसिक्याँनी।"

—आसकरन

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकने भी कुछ ऐसी ही सुमधुर-सूक्ति कही यथा—

"शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।

पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्-
मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण
"तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं—
सव्रीडहासेक्षणसूनृता
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय संदेशहरं रमा
—श्रीमद्भागवत १०

एक पद इस भावपर श्रीसूरका भी देखिये, जैसे-

"आजु ब्रज कोउ आयौ है ।
कैधौं बहुरि अक्रूर क्रूर ह्वै, जियति, आनि उडि धा
मैं देख्यौ ताकौ रथ ठाढ्यौ, तुम सखि ! सोध न पा
कै करि कृपा, कै दुखित जानिकैं, हरि-संदेस पठाय
चलीं सिमटि सबै पूछन कौं, ऊधौ-दरस दिखायं
सब पहिचाँनि सबै प्रभु कौ भृत, करन-जोरि सिर नाय
हरि हैं कुसल, कुसल हौ तुम हूँ, कुसल लोग जिहिं माय
है वह नगर कुसल "सूरज" प्रभु, करि सुदृष्टि अहँ छाय

. . .

अब तनिकँ—"पूँछति सुधि नँद-लाल की"·······"र
नवनीतजीकी भी एक सूक्ति निरखिये, यथा—

"जादव कौ बैरी-पित्र-द्रोही कंस मित्र-सुत-
मार्यौ सो तौ सुजस पवित्र निरमल
मामा-हतं सिगरे हितू-जन जो मसायौ-
राज-पाट सो दिपायौ अरथ पायौ सो सकल
"नीतकवि" मारनें तौ थाँरे ही बखर बीच,—
कुबजा कौ सूधी करि डारी तौ मसल

एते सब सुहृद-समाज के सहित ऊधो !
कहि तेरो अब लौ यह अच्युत कुसल है ॥"
—गो० प्रे० पी० प्र०

उद्धव-वचन

(५)

कुसल—कुशल, राजी-खुशी, प्रसन्न, भले, मंगल, कल्याण, क्षेम।

"भावुकं भविकं भव्यं "कुशलं" क्षेममस्त्रियाम्।"

रांम—बलभद्र, बलदाऊ, बलदेव, व भगवान्‌के बड़े भाईका नाम-विशेष, जैसे—

"बलभद्रः प्रलम्बघ्नो बलदेवोऽच्युताग्रजः।
रेवतीरमणो "रामः" कामपालो हलायुधः॥"
—अमरकोश

संगी—साथी, साथवाले, साथके, संग-साथ रहनेवाले, पासके, हमेशा पास रहनेवाले, मित्र, बन्धु। जदु-कुल—यादव-कुल अर्थात् यादवोंका कुल, वंश।

कहते हैं—'यदु' महाराज ययातिके बड़े पुत्र थे। आपकी माताका नाम देवयानी जो श्रीशुक्राचार्यकी पुत्री थी। 'महाभारत'में लिखा है कि पिता महाराज ययातिके शापके कारण आपको राज्य नहीं मिला, लेकिन पुनः इन्द्र जो देवताओंके राजा हैं, उनके कारण आपको राज्य मिला। भगवान् श्रीकृष्ण इसी पावन वंशमें उत्पन्न हुए थे, जैसे—

"दुष्यन्तः स पुनर्भेजे स्वं वंशं राज्यकामुकः।
ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभः॥
वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम्।
यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
यत्रावतीर्णो भगवान्परमात्मा नराकृतिः।
यदोः सहस्रजित्क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः॥"
—श्रीमद्भागवत ९।२३।१८, १९, २०

ब्रज—शुद्ध व्रज, अर्थात् गौ और गोपोंका निवास-स्थल, गाँव, गोष्ठ। व्रज शब्द समूह या झुंडके अर्थमें भी आता है, यथा—

समूह-निवह-व्यूह-संदोह-विसर "व्रजाः।"
—अमरकोश २।५।३९

और *'व्रज'* व्रज+*'गतौ'* धातुके अनुसार जाने वा गमनके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। तीर—समीप, पास, निकट अथवा—तीर, कूल, किनारा, तट अथवा—बाण, सरको भी कहते हैं।

"कूलं रोधश्च "तीरं च" प्रतीरं च तटं त्रिषु॥"

थोरे—थोड़े, *अल्प*। जनि—मत, नहीं, निषेधार्थक सर्वनाम।

कुसल, रौंम, संगी, जदुकुल, ब्रज, तीर, थोरे और जनि—शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"ऊधो" ! "कुसल अहै दोउ भैया।"
—सूरदास

"रौंम" रौंम दोउ आगें करिकैं, पूजत गिरि गोबरधन ब्रज-राइ।"
—छीतिस्वामी

"संगी" हैं, सहकी हैं, सलाही हैं............।
—रसरूप

"धीर-धरौ अहो गोपिका, धारौ प्रान-समाज।
कछु काल बीतें इतै, अइहैं "यदुकुल" राज॥"

—नवनीत

"ब्रज" भयौ महरि कें पूत, जब यै बात सुनीं।"

—सूरदास

"नैंक मेरे "हीर" आइ जा, अहो साँवरे कन्हैया!"

—नागरीदास

"थोरे"—ई गुन रीझिवौ बिसराई वह बानि।"

—बिहारी

"अब "जनि" करहु विलंब लाड़िली, दया-दीठि टुक हेरौ ·····।"

—व्यासजी

कुछ यही बात श्रीशुक भी उद्धवजीसे कहलाते हैं,यथा—

"आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः॥"

श्रीमद्भागवत १०।४६।३४

इसी भावपर अब जरा श्रीसूरकी भी बानगी निरखिये, जैसे—

गोपी, सुनौं हरि-कुसलात।
कंस-नृप कौं मारि छोरे, आपुने पित-मात॥
बौहौत-विधि ब्यौहार करि दयौ, उग्रसैन कौं राज।
नगर-लोग सुखी बसत हैं, भए सुख के काज॥
इहै पाती लिखी, अरु कछु कह्यौ सुख-संदेस।
"सूर" निरगुन-ब्रह्म धरि कें तजहु सकल अंदेस॥

अथवा—

गोपी, सुनौं हरि-संदेस।
गए सँग-अक्रूर-मधुबन, हत्यौ कंस-नरेस॥

रजक-मारयौ, बसन-पैहरे, धनुष-तोरयौ जाइ।
कुवलिया-चाहूर-मुष्टक, दए धरनि-गिराइ॥
मात-पित के बंद छोरे, बासुदेव-कुमार।
राज दीन्हों उग्रसेनहिं, चँमर निज-कर-ढार॥
कह्यौ तुम कौं ब्रह्म-ध्यावौ, छाँड़ि-बिषै-बिकारि।
"सूर" पाती दई लिखि मोहिं, पढ़ौ गोप-कुमारि॥

कवि-वचन

(६)

मोंहन—शुद्ध मोहन अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णका नामविशेष अथवा—मोहन, मोहनेवाले, अपनी ओर आकर्षित करनेवाले—खींचनेवाले। अथवा मोहन, अर्थात् जिसे मोह न हो, प्यार न हो, मुहब्बत न हो आदि-आदि।

मोंहन शब्दपर जरा 'रस-निधि'जीकी फबती भी सुन लीजिये, जैसे—

"मोंहन तेरे नाम कौ, लख्यौ वा दिना घोर।
ब्रजवासिन कौं मोहि कैं, चले मधुपुरी-ओर॥"

अथवा—

"रसनिधि' मोंहन नाम कौ, अरथ न लिय निरधार।
प्रथम समझि सब कीजयौ, बातों प्रीति-बिचार॥"
—रतन हजारा

सुमरन है आयौ—स्मरण हो आया, याद आ गया सुमरन—याद, ध्यान।

"चिन्ता तु स्मृतिराध्यानं 'स्मरणं' सस्पृहं पुनः।
उत्कण्ठोत्कलिके तस्मिन्नभिध्यातृभयोरपि॥
—शब्दार्णव

आनन—मुख, मुँह, चहरा, बदन, आस्य।

वक्त्रास्ये वदनं तुंडं 'आननं' लपनं मुखम्।

—अमरकोश

कमल—पुष्प-विशेष, कमलको पद्म, अंबुज, जलज आदि भी कहते हैं। यथा—

वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्।
सहस्रपत्रं "कमलं" शतपत्रं कुशेशयम्॥

—अमरकोश १। १०। ३९

कमल पानीसे उत्पन्न एक पुष्प, जो संसारके सभी देशोंमें प्रायः पाया जाता है। यह पुष्प झीलों, तालाबों और कवि-कयनोंसे नदियों तथा गड्ढोंमें जो कि पानीसे—जलसे पूर्ण हो, होता है। रंग और आकारके भेदसे इसकी अनेकानेक जातियाँ होती हैं, किंतु विशेष रूपसे लाल, सफेद, पीला और नीला ही अधिक देखनेमें आता है। कमलकी पींड़ पानीमें जड़से पाँच या छः अंगुलसे ज्यादा ऊपर नहीं आती। कमलकी पत्तियाँ गोल थाली-सदृश होती हैं और बीचके डंठलमें पतले तनेके साथ जुड़ी रहती हैं। इन पत्तियोंको 'पुरइन' भी कहा जाता है, आदि-आदि।

अंग—शरीर, अथवा शरीरका कोई हिस्सा, अवयव, बदन, देह, तन, गात्र, जिस्म।

"अङ्गं" प्रतीकोऽवयवोऽपघनोऽथ कलेवरम्।
गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः॥"

—अमरकोश २। ६। ७१

अङ्गके और भी अर्थ होते हैं। जैसे—भाग, अंश, टुकड़ा,

खण्ड, उपाय, सहायक, तरफदार, सुहृद्, प्रत्ययुक्त शब्दका प्रयत्न
रहित भाग, प्रकृति, जन्म-लग्न, वह साधन जिसके द्वारा कार्य
सम्पादित किया जाय, देशविशेषका नाम, ध्रुववंशी एक राजा, एक
भक्तका नाम, एक सरस सम्बोधन, प्रिय, प्रियवर, ६ की संख्या,
ओर, तरफ, नाटकके शृंगार और गीत छोड़कर अन्य अप्रधान रस
नाटकके नायक व अङ्गीका कार्य साधक-पात्र, वेदके छः अ
जैसे—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द। से
चार विभाग व अङ्ग जैसे—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। योगके आठ
अङ्ग, जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा
और समाधि। राजनीतिके सात अङ्ग, जैसे—स्वामी, अमात्य, सुहृ
कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना। फिर पुनः को भी अङ्ग कहते हैं। जैसे—
"पुनरर्थेऽङ्ग," निन्दायां कुत्सु सुष्ठु प्रशंसने॥"

आवेस—शुद्ध आवेश, अर्थात् आतुरता, व्याप्ति, संचार, दौ
जोश, चित्तकी प्रेरणा, झोंक, आवेग, वेग, प्रवेश, विह्वल—
विह्वल, अर्थात् घबराकर, व्याकुल, किसी मनोवेगके कारण
होना। जैसे—

व्यसनार्त्तोपरक्तौ द्वौ विह्वलव्याकुलौ समौ।
विह्वलो "विक्लवः" स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टधीः॥
—अ

धरनी—शुद्ध धरणी, पृथ्वी, भूमि, जमीन। [illegible]
[illegible] थी। मुरझर—मुरझाकर, उदास होकर
होकर मुरझाकर। प्रवीन—दक्ष, चेतनवाली, दक्ष [illegible]
कुशलता, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible]।

मौंहन, सुँमरन, औंनन, कँमल, अंग, आवेस, बिह्वल, धरनी, मुरझाइ, प्रबोध आदिके सरस प्रयोग।

"गोवरधन की सिखर तें हो "मौंहन" दीनीं है टेर।"

—रसिकराय

"राम-नाम 'सुँमरन' नहिं कियौ, यूँयौं ही जनम गँवायौ हो।"

—रामदास

"नित-प्रति यून्यौं हीं रहति 'औंनन' ओप-उदास।"

—बिहारी

"बन मौं आवन, 'कँमल' फिरावत तारें गावन तान-तान—

"धौंधी के प्रभु हाथ दूरि राखौं, टूटैगी मौंतिन की माल॥"

—नैधी

अथवा—

कहा कहीं सखी ! "औंनन-कमल" की सोभा !

—वृन्दावनदास

"अंग" अमिन कछु भरी माधुरी, सोभा सहज निकाई।"

—परमानन्ददास

"वा मूरति के देखति कछु मो-मन अति "आवेस" जनायौ।"

—खेमरसिक

"बिह्वल" ह्वै गई बाल, लाल सों अलबल बोलें।"

—नन्ददास

'भूषन-बसन उतारि तू नाहक, बैठि रही चुप 'धरनी'।'

—रसिक-प्रीतम

'मन हरि लीनौं स्याम, परी राधे 'मुरझाई'।

बहुत सिथिल भई देह, बात कछु कही न जाई॥'

—नँददास

संयोग-द्वारा अथवा उक्त शक्तिसंचालित-नाड़ियोंके द्वारा भीतर जाती है और कोशोंको प्रोत्साहित करती हुई परमाणुओंमें उत्तेजना उत्पन्न-कर बाहर आती है और यही शक्ति कहलाती है। भूतवादियोंके अनुसार उक्त शक्ति ही नाड़ियों और कोशोंकी क्रिया 'चेतना' कहलाती है! पर है वह एक स्वतन्त्र शक्ति ही।

पाश्चात्य दर्शनोंमें भी—विषयोंके साथ इंद्रियोंके संयोगरूप प्रत्यक्ष-ज्ञानको ही 'ज्ञान'का मूल वा प्रथम रूप माना जाता है। किसी वस्तु—ज्ञानके लिये यह भावना आवश्यक है कि जिस-का ज्ञान करना है वह वस्तु कुछ वस्तुओंके समान है—अथवा भिन्न, क्योंकि विना साधर्म्य और वैधर्म्यकी भावनाके किसी प्रकारका ज्ञान हो ही नहीं सकता—असंभव-सा है और इस साक्षात्कारणरूप ज्ञानसे ही आगे चलकर सिद्धान्तरूप ज्ञानके लिये संयोग, सहकालत्वकी भावनाएँ होनी हैं, जो स्थायित्वरूपसे ज्ञान कहलाता है। अस्तु उक्त ज्ञान—प्रमा और अप्रमा, अर्थात् यथार्थ-ज्ञान और अयथार्थ-ज्ञानरूप दो भेदोंमें विभक्त है। वेदान्तमें ब्रह्मको ही ज्ञानस्वरूप माना है, अतएव उक्त मतानुसार सबका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं हो सकता। एक वस्तुसे दूसरी वस्तुओंमें अथवा एकके ज्ञानसे दूसरेके ज्ञानमें जो विभिन्नता विभूषित है, वह विषय-रूप उपाधिका कारण है, वास्तविक-ज्ञान तो एक ही है जिसके अनुसार सब विभिन्नता-भूषित पदार्थोंके मध्य केवल एक चित्स्वरूपकी सत्ता वा ब्रह्मका ही बोध होता है, आदि—आदि............।

अखिल-विश्व-परिपूरि—ओर (आदि) से आखीर (अंत) तक सारा ब्रह्माण्ड। अखिल—संपूर्ण, समग्र, सब, पूरा, बिल्कुल

'विस' अथवा विश्व:—चौदहों भुवनोंका समूह, समस्त ब्रह्माण्ड, सारा संसार, जगत्, दुनियाँ। विश्व, सबको भी कहते हैं। यथा—

'विश्वमशेषं कृत्स्नसमस्तनिखिलाऽखिलानि निःशेषम्।'

भर-पूर—पूरी तरहसे भरा, पूरा-पूरा, जिसमें कुछ भी कमी न हो। पूर्णरूपसे, अच्छी तरह। बिसेलौ—प्रतीत होना, मानि। लोह—लोहा, धातुविशेष। दारु—लकड़ी, काष्ठ या काठ। पाषान—शुद्ध पाषाण, पत्थर या फत्तर।

'पाषाण प्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्।'

मही—पृथ्वी, जमीन, धरती। अकास—शुद्ध आकाश अर्थात् गगन, अंबर, शून्य। सचर—सचल, अर्थात् संपूर्ण चलनेवाली वस्तु, चर, जंगम।

अचर—अचल, अर्थात् न चलनेवाली वस्तु, जड़पदार्थ।

जोति—शुद्ध ज्योति, अर्थात् प्रकाश, उजाला, लौ। यह चेतन-सत्ता जो कि जगत्का कारण है। वह सत्, चित् आनन्द-स्वरूप तत्व जिसके अतिरिक्त और जो प्रतीति होता है वह सब मिथ्या है—असत् है। ईश्वर, जगत्-कर्ता आदि आदि ·· ····।

१ ब्रह्म श्रुति [illegible] कहते हैं—

"बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च [illegible]—ब्रह्मः।"

अर्थात्—बड़े तथा बढ़ानेवाले होनेसे महान् [illegible] [illegible]।

ब्रह्म है, जैसा कि श्रुति प्रतिपादन करती है—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१

विष्णुपुराणमें कहा है—

"[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible] [illegible] "ब्रह्म" [illegible]॥"

(विष्णुपुराण १।१।[illegible])

कहते हैं—ब्रह्म जगत्‌का कारण है और यही उसके तटस्थताका लक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द, अखण्ड, नित्य, निर्विकार, निर्गुण, निर्लेप, निःसंग और अद्वितीय है, जो उसके स्वरूप-लक्षणका द्योतक है। जगत्‌का कारण होनेपर भी जैसी कि सांख्यकी प्रकृति या वैशेषिकका परमाणु है, उस प्रकार ब्रह्मपरिणामी या आरंभक नहीं। वह जगत्‌का अभिन्न—निमित्तोपादान विवर्त्त-कारण है। अस्तु, ब्रह्मपरिणाम या विकार नहीं, अपितु विवर्त्त है। किसी वस्तुका कुछ और ही हो जाना—उसका रूपान्तर हो जाना जिससे उसका असली स्वरूप ज्ञात न हो यह विकार या परिणाम कहा जाता है और उसका उस जैसी आकृतिवाला कुछ और प्रतीति होना 'विवर्त्त' कहा जाता है। यों तो नाम और रूपकी उत्पत्ति ही नाम-सृष्टि कही जाती है, पर ये दोनों नाम और रूप ब्रह्मके कोई अवयव नहीं, क्योंकि वह उक्त तीनों प्रकारके भेदोंसे पृथक् है—रहित है। ब्रह्मका सम्यक्-निरूपण करनेवाले आदि-ग्रन्थ वेद और उपनिषद् हैं। किंतु वे भी उसे 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं, यह नहीं' कहकर उसे प्रपञ्चोंसे परे—अलग मानते हैं। कोई-कोई जीवात्माको ब्रह्मका अंश मानते हैं; पर शुद्ध-अद्वैत-दृष्टिमें जीवात्मा ब्रह्मका अंश या कोई स्वगत-भेद नहीं, अपितु अपनेको परिच्छिन्न और माया-विशिष्ट समझता हुआ ब्रह्म ही है, इसीसे 'तत्त्वमसि' वाक्य-द्वारा आत्मा और ब्रह्मका अभेद व्यञ्जित किया जाता है। शुद्ध और अद्वैत क्या?

"एतन्मते सुनिष्पन्नं सुनिष्पन्नं साङ्कर्यं कार्यकारणे।"

है । जलमें यदि पत्थर फेंका जाय तो जहाँ पत्थर गिरेगा वहाँ जलमें एक प्रकारका क्षोभ उत्पन्न होगा जिससे तरंगें उठकर चारों ओर बढ़ने लगती हैं। ठीक इसी प्रकार ज्योतिष्मान्-पदार्थद्वारा 'ईथर' और आकाश-द्रव्यमें जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह प्रकाशकी तरंगोंके रूपमें चलता है । अतः यह आकाश-द्रव्य विभु वा सर्वव्यापक पदार्थ है जो कि प्रकाशके वाहकका यथार्थ कार्य करता है । प्रकाश-तरंगोंकी कल्पनातीत है । वे एक सेकिंडमें हजारों मील वा कोसके हिसाब चलती हैं। प्रकाशकी उक्त तरंगें वा किरणें जो निकलती हैं, यद्यपि वे सब एक ही गतिसे गमन करती हैं, पर तरंगोंकी लंबाई-के कारण उनमें भेद समुपस्थित हो जाता है, जिससे उनकी लंबाई भी भिन्न-भिन्न हो जाती है । इससे किसी एक प्रकारकी तरंगोंसे बनी हुई किरणें अन्य प्रकारसे बनी हुई किरणोंसे भिन्न हो जाती हैं। यह भेद ही रंगोंके विविध भेदोंका कारण हैं । जैसे—किसी तरंगकी लम्बाई' ०००० १६ इंच है, तो वह बैगनी रंग देगी—प्रकट करेगी । और जिसकी लम्बाई' ०००० ३४ इंच होगी वह लाल रंग देगी, अर्थात् प्रकट करेगी । इसी तरह अनेक भेद हैं, पर उनमेंसे कुछ ही हमारी चक्षुरिंद्रियोंको ग्राह्य है, बाकी नहीं । पहिले 'न्यूटन' आदि पुराने तत्त्वविदोंने प्रकाशको अणुमय वस्तु माना था, पर पीछे वह अखंड—वस्तुकी तरंगोंके रूपमें माना जाने लगा । इधर फिर थोड़े दिनोंसे अणुमय माननेकी वही पुरानी प्रवृत्ति वैज्ञानिकोंमें दिखायी पड़ने लगी है ।

प्रकाशके अन्य अर्थ भी होते हैं जैसे—'विकाश, स्फुटन, विस्तार, अभिव्यक्ति, प्रकटन, प्रकट होना, गोचर होना, देखनेमें

आना, प्रसिद्धि, ख्याति, स्पष्ट होना, खुलना, साफ़ समझमें आना, आदि-आदि………………… ।

ग्यौंन, अखिल, बिस्व, भरपूर, बिसेखौ, लोह-दारु-पाखानमें, जल-थल, मही, अकास, सचर-अचर, जोनि और ब्रह्म-प्रकासके सरस प्रयोग । यथा—

'अरी सुन—'ग्यौंन' गहीली प्यारी, एतौ न कीजै मान ।'

—चतुर्भुजदास

'अखिल' लोक कौ पालक जसुधा, सो तेरे—घर आयौ ।'

—परमानंद

'दै-दै चले असीस सबै मिलि, सकल बिस्व' के प्राँन ।'

—कृष्णदास

मैं हौं बबा, तिहारो ढाढ़ी, मान मिल्यौ 'भरिपूरि ।'

—विट्ठलगिरिधरन

हरखे हिएँ सुख्याइ नंद सुत, पूरन-प्रेम—'बिसेखौ ।'

—रघुवीरदास

'लोह, दारु पाखान में' तुम देखौ आई ।
'जल-थल' 'मही-अकास' कहौ प्रभु कहाँ जु नाँई ॥'

—परमानंददास

'सचर-अचर' में प्रघट जु देखौ… ……………… ।'

—सुंदरदास

सुंदर-मुख की 'जोति' थिरकि रही यों अवनीपर ।'

—नंददास

सुनों नंद-उपनंद कथा यै, आयौ छीर-समुद्र कौ बासी ।
बसुधा-भार-उतारन कारन प्रगट 'ब्रह्म' बैकुंठ-निवासी ॥'

—परमानंददास

देति दिठौन सुघर स्याम कैं, बदली कुपालि भावन ।'

—ब्रजेश

श्रीनंददासजीकी उक्त ज्ञान-सूक्तियाँ यह श्रुति-सूक्ति वाक्य पर आ जाती हैं, जैसे—

'ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।'

—ईशोपनिषद् १ पृ०

नंददासजीकी उक्त सूक्तियाँ श्रीसूरदास सत्य-भाव भी देखिये । यथा—

गोपी, सुनौ हरि सँदेस ।
करि समाधि अंतरगति ध्यावौ, यह उन कौ उपदेस ॥
वे अविगत, अविनासी, पूरन, सब घट रहे समाई ।
निरगुन-ग्यान बिनु मुकुति नाहिं है, वेद-पुराननि गाई ॥
सगुन-रूप तजि निरगुन ध्यावौ, इक-चित, इक-मन लाई ।
इहि उपाइ करि बिरह तरौ तुम, मिलैं ब्रह्म तब आई ॥
दुसह-सँदेस सुनत माधौ कौ, गोपी-जन बिलखानी ।
'सूर' बिरह की कौन चलावै, बूड़त मीन बिनु-पानी ॥

अथवा—

'ग्यान-बिना कहुँ हू सुख नाहीं ।
घट-घट-ब्यापक दारु-अगिनि ज्यौं, सदा बसै उर माँहीं ॥
निरगुन-छाँड़ि सगुन कौं दौरति, सोचि कहाँ किहि पाँहीं ।
तत्त्व भजौ जो निकट न छूटै, ज्यौं तन के सँग छाँहीं ॥
कौ कहौ कौन सुख पायौ, जे भटकौ भटकाँहीं ।
ऐसैं फर लागत, ज्यौं कृषि कीन्हें पाँहीं ॥'

उक्त भावपर "आलम" कविकी सूझ भी देखिये, यथा—

"सोई स्याँम सुनहुँ अगाध कै समाधि-साधै,
सोई स्याँम रैनि आमें नित ही समाति है।
सोई स्याँम पलक लगे तें स्याँम ताही मैं—
तनमैं होत लय कत पछिताति है?
"आलम" सुकवि कहै सोई स्याँम वन, घन,
तारन तें न्यारे नाहिं कत बिललाति है।
तुमहीं में स्याँम, तुम स्याँम ही में रमि रहीं,
बादि-ही बिकल-बिह्वल भई जाति है॥"

अथवा—

"कोटि-घटैन में बिदित ज्यों, रबि-प्रतिबिंब दिखाइ।
घट-घट में त्यौं ही छिप्यौ—स्वयं-प्रकासी आइ॥"
—रसनि

सुंदरदासजी कहते हैं—

"जैसें ईख-रस की मिठाई भाँति-भाँति भई,
फेरि करि गारें ईख-रस ही लहतु है।
जैसें घृत थीज कें दरा सों बाँधि जात पुनि—
फेरि पिघले तें वह घृत ही रहतु है॥
जैसें पाँनी जम कें पखान हू सौ देखियतु,
सो पखान फेरि पाँनी है बहतु है।
तैसें ही 'सुंदर' यह जगत है ब्रह्ममय,
ब्रह्म सो जगतमय बेद सो कहतु है॥"
—सुन्दरविलास

यही बात "रसरूपजी" भी कहते हैं, किंतु दूसरे दूसरे ढंगसे, जैसे—

"नीर-भरि धरिए अनेक-घट भाँति जैसें,
सूरज-प्रकास एकु सब में सुहायौ है।

ससि के सदन बीच एक ही को प्रतिबिंब, जहाँ—
जहाँ देखिये, अनेक ह्वै दिखायो है ॥
मानों परिमाँन कहै भ्रमन अपान ह्वै कै—
एही बात, एही बिधि बेदन बतायो है।
चारि-बिधि जीव-जंतु जगत बिचारि देख्यो
'रसरूप' एकै रूप घट-घट छायो है ॥"

अब इस सुकवि 'रत्नाकरजी' की बानगी देखिये, कैसी ऊँची-तुली बात कहते हैं—

"पंच-तत्त्व में जो सच्चिदानंद की सत्ता सो तौ—
हम-तुम उनमें समान ही समोई है।
कहै 'रत्नाकर' बिभूति पंच-भूत हू की,
एक ही-सी सकल प्रभूतनि में पोई है।
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखौ भ्रम-पटल-उघारि ग्यान-आँखिन तैं
कान्ह सबही मैं, कान्हही मैं सब कोई है ॥"

एक बात और—

श्रीनंददासजीने अपने इस छंदमें 'थल' और 'मही' तथा 'जोति' और 'परकास' आदि समानार्थवाची शब्दों-जैसा प्रयोग किया है पर 'थल' का जलके साथ सम्बन्ध होनेसे यहाँ थल शब्दका अर्थ स्थान, जगह, ठिकाना न होकर सूखी-धरती, जो कि जलके भीतर किसी प्रकारसे रह गयी हो अथवा जिसके चारों ओर जल हो ऐसी जमीन मानना चाहिये, अथवा वह जमीन जिसपर पानी न फिरा हो, अर्थात् ऊँची जिसे कि टीला आदि कहते हैं अथवा थल उसे

कहते हैं, जहाँ बहुत रेत जमा हो गया हो। भूड़, दली, रेगिस्तान भी थल ही कहलाता है। और मही समतल भूमिको कहते हैं। जैसे—

गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वीक्ष्माऽवनिर्मेदनी 'मही'

—अमरकोष

इसी प्रकार ज्योति (जोति) और प्रकाश (परकास) में भी यही बात है। यहाँ ज्योति और प्रकाशका ब्रह्मसे संबंध होनेके कारण इस पद्यांश—'जोति-ब्रह्म-परकास' का अर्थ ब्रह्मकी ज्योतिका प्रकाश होगा। यानी समानार्थी होते हुए भी भिन्न अर्थ होगा, क्योंकि प्रकाश तेजको कहते हैं, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है और ज्योतिको 'द्यौ' आदि यथा—

"अग्नौ दिवाकरे च ज्योतिः।"

गोपी-वचन

(८)

मारग—शुद्ध मार्ग, अर्थात् पंथ, रास्ता, राह। सूधौ—शुद्ध सीधा, सरल, जो टेढ़ा न हो, कपट-रहित, जो ठीक साधारण स्थिति-में हो, जिसमें वक्रता न हो। नैन—नयन शब्दका भाषामय अल्प और मनोहर रूप, लोचन, नेत्र, आँख, चक्षु।

"लोचनं "नयनं" नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी।"

—अमरकोष २ । ६ । ४४

आँख, देखनेकी वह इंद्रिय जिससे स्थावर और जंगमोंके रूप, आकार, वर्ण और विस्तारका यथार्थ ज्ञान होता हो। मनुष्य-शरीरमें यही एक ऐसी इंद्रिय है जिसपर आलोकके द्वारा पदार्थोंका बिम्ब खिंच जाता है, आदि-आदि··········।

नैन (नयन)—शब्दकी एक सुन्दर व्युत्पत्ति करते हुए रसनिधिजीने बड़ा गज़ब ढाया है,—देखिये न जैसे—

> "आपु कहाति देवति सबहिं 'रसनिधि'-कर बिनु ठौम ।
> नैननि मैं नै आँहि मैं या में "नैना" नाम ॥"
> ऐसी छबि मृग, मीन की, कहाँ कहाँ की रीति ।
> नाम्हिँ मैं "नै" आँहि लौ करैं "नैन" का नीति ॥

अथवा—

> "जो कछु उपजत आइ उर, सो ये "आँखैं" देति[1] ।
> 'रसनिधि' आँखैं नाम इन्ह, पायौ अरथ समेति ॥"

और चख (आँख)—

> "और रमन है जान हीं, रसना हू अभिराम ।
> चाखन ले इक रूप-रस, तातें है "चख" नाम ॥"

स्रुति—शुद्ध श्रुति, अर्थात् कान, श्रवण, अथवा शरीरकी वह इंद्रिय जिससे सुना जाता है ।

> "कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं 'श्रुति' स्त्री श्रवणं श्रवः ।"
> (अमरकोश २ । ६ । ४९)

स्रुति—शब्दको श्लेषमें पागकर—सजाकर कविवर बिहारी-लालजीने बड़ी ऊँची उड़ान उड़ी है, यथा—

> "सजौ तरौनाहीं रह्यौ "स्रुति" सेवत इक अंग ।
> नाक-बास बेसर लह्यौ, रहि मुकुतन के संग ॥"

नासिका—घ्राणेन्द्रिय, अर्थात् जिससे सूँघा जाय, या सुगन्ध-दुर्गंध मालूम हो वह इंद्रिय, नाक, नासा । यथा—

> "क्लीवे घ्राणं गन्धवहा घोणा नासा च "नासिका ।"

---

1. यहाँ "आँखें" शब्द-कहने या अंकित कर देनेके अर्थमें प्रयुक्त है ।

कौन ठगोरी भरी हरि आजु, बजाई है बाँसुरिया रस-भीनी।
तान सुनीं जिनहीं-जिनहीं, तिनहीं-तिन्ह लाज बिदा करि दीनी॥
घूँमें खरी-खरी नंद के द्वारन, दीनीं कहा अस बाल-प्रबीनी।
या ब्रज-मंडल में 'रसखानि' सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी॥

—रसखान

"अधर-धरति हरि के परति, ओठ, दीठि, पट-जोति।
हरित-बाँस की 'बाँसुरी' इंद्र-धनुष-रँग होति॥"

—बिहारी

"दुरी दुराएँ हूँ हिएँ, झीने-पट बंसी न
लखि तिय-दिसि-लखि हँसि कह्यौ, है पै बीन नवीन॥"

—कोई कवि

"बिछुरति मोहन-अधर तें, रहति न जिहि घट साँस।
बंसी-सम पायौ न हम, प्रेम-प्रीति कौ आँस॥"

—कोई कवि

"पोर-पोर तन आपुनौं, प्रथम छिदायौ जाइ।
तब 'बंसी' नँदलाल पै, भई सुहागिनि आइ॥"

—कोई कवि

"बंसी, बंसी नाम तब, राख्यौ कोउ प्रबीन।
तान-तान की डोर तें, खैंचि लेति मन-मीन॥"

—रसलीन

"अरी-बँसुरिया, बाँसकी, तू है निहचै साँच।
फूँकि-फूँकि कर पिय-धरत, तऊ अँगुरिया नाँच॥"

—कोई कवि

ठगोरी—वह शक्ति जिससे कोई भी आदमी—मनुष्य अपने आधीन किया जाता है। ठगों-जैसी माया, मोहिनी-शक्ति, मोहित

"मुसकि-ठगोरी" डारि कें प्यारे, सकति लई रति-जोरि।"

—रसिकराय,

श्रीनंददासजीकी तरह "श्रीसूर" ने भी उद्धवके उस अद्वैत-वादका कुछ ऐसा ही सुन्दर जवाब दिया है, जैसे—

ऊधौ, और कछुक कहिबे कों।
मन-मानें सोऊ कहि डारौ, पाँ-लागें हम सब सहिबे कों॥
यै उपदेस आजु लौं ऐसौ, काँनन सुन्यौं न देख्यौं।
निरपति पऱै कटुक अति-जीरन, बाँहुति महि उर लेख्यौं॥
निसि-दिन बसत नेंकु नहिं निसरति, हृदै-मनोहर-ऐंन।
या कों यहाँ ठौर है नाहीं, लै राखौ जहँ चैन॥
ब्रजवासी गोपाल-उपासी, सो बातें हम छाँड़ि।
'सूर' जोग-धन राख मधुपुरी, कुबिजा के घर गाड़ि॥"

अथवा—

'काहे कों रोकत मारग-सूधौ।
सुनौं मधुप ? निरगुन कंटक ते, राज-पंथ कों रूंधौ॥
कै तुम सिखै पठाए कुबिजा, कही स्याँम-घनजू धौं।
वेद-पुराँन, इस्मृति सब ढूंढ़े, जुबतिन जोग कहूँ धौं॥
ता कौ कहा परेखौ कीजै, माँगत छाछ न दूधौ।
'सूर' मूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज-निबेरत ऊधौ॥'

---

१ अद्वैत-वादियोंका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ है वह सब मिथ्या है—सब जग झूठा है। वह कहते हैं कि जिस तरह रस्सीके स्वरूपको न जानकर सर्पका भान होता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मके सुन्दरूपको न जाननेसे संसार और सांसारिक वस्तुएँ ब्रह्मसे भिन्न—पृथक् जान पड़ती हैं। लेकिन अन्तमें ज्ञान प्राप्ति होनेपर यह स्थावर-जङ्गम-मय सारा संसार ब्रह्म-मय प्रतीत होने लगता है !

अथवा उद्धव—

'जित देखौं, तित स्याम-मई है।
स्याम कुंज, बन, जमुना स्यामा, स्याम-गगन-घन-घटा छई है ॥
सब रंगन में स्याम भरयौ है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, कै लोगन ही की, स्याम-पुतरिया बदल गई है ॥
चंद्रसार, रबि-सार, स्याम है, मृग-मद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठ कौ कंठ स्याम है, मनौं स्यामता बेलि बई है ॥
श्रुति कौ अच्छर स्याम देखियतु, दीप-सिखा पै स्याम तई है।
नर-देवनकी कहा चलैयतु, अलख-ब्रह्म-छबि स्याम मई है ॥'

कुछ ऐसी ही बात 'कबीरदास' भी कहते हैं, जैसे—

'पीतम कौं पतियाँ लिखूं, जौ कहुँ होइ बिदेस।
तन में, मन में, नैन में, ताकौं कहा सँदेस ॥'

श्रीनागरीदासजी कहते हैं कि—प्रिय-उद्धव! एक बात बतलाओ, जैसे—

हा-हा ऊधौ ! कहिये बात।
सुर-मुरली सों मोही सब हम, अब सुर-संख बजात ॥
रँग-रस तजि रन-रस बस भए, कछु मृदु, कुलिस लखात।
सहि न सके सर-नैंन हमारे, क्यों सर-सार सुहात ॥
पीत-झगा कौ लगत भार तब, कवच कसत क्यों गात।
मूठि-गुलाल लगत अबला कर, अब न गदा कर पात ॥
सुनि-सुनि हम ये सहि न सकति हैं, होति दगन जल पात।
लगत कहत हम भईं बावरी, प्रीति-रीतिके नात ॥
मुरली-मुकुट, लटकि है छबि की, हिय तें नाँहिन जात।
'राजसिंह'[1] प्रभु करयौ कहा पै धरी दया नहिं गात ॥

---

[1] यह महाराज कृष्ण-गढ़के राजाका दूसरा उपनाम है।

आलम कवि कहते हैं—

सरिता-तट, बंसीवट, कुंज-पुंज, बीथी,
बन-घन जहाँ-तहाँ आँनद-उपभोगी हैं।
सोई रची ध्यान, ऊधौ ! ध्यान कौ न काज कीजै,
ए तौ ब्रजबासी ब्रजराज के बियोगी हैं॥
'आलम' सुकवि कहै तन-बीच कान्ह-छबि—
जोग-जेंग आए तुम कहा हम जोगी हैं।
जोग तौ सिखैए ताहि जोग की जुगति जानैं,
जोग कौ न काज हम बंसी-रस भोगी हैं॥

श्री घन आँनन्दजी भी कुछ ऐसी ही सरस-सूक्ति कहते हैं यथा—

वह मुसिकानि, वह मृदु-बतरानि, वह—
लड़कीली-बाँनि आँनि उर में अरति है।
वह गति लैन औ बजावनि ललित-बैन,
वह हँसि-देन हियरा तें न टरति है॥
वह चतुराई सौं चिताइ चाहिबे की छबि—
वह छलताई न छिनकि बिसरति है।
आँनद-निधाँन प्राँन, पीतम सुजाँन जू की,
सुधि सब भाँतिन सौं बेसुधि करति है॥

कुछ ऐसा ही श्रीभारतेंदुजी भी कहते हैं, यथा—

पहिलैं ही आइ मिले गुन में श्रवन फेरि—
रूप-सुधा-मधि कीन्हौं नैन हूं पयाँन है।
हँसनि, नटनि, चितवनि, मुसिकाँनि सुघ—
राई, रसिकाई मिलि मति पय-पाँन है॥
मोहि-मोहि मोहन-मई री मन मेरौ भयौ—
'हरीचंद' भेद ना परत कछु आँन है।

आँसू भए नैन मय, नैन भए आँसू-मय,
हिय भी न जानि परै, आँसू है कि नैन है ॥'

अब यहाँ 'रत्नाकर'जीकी भी बानगी श्रीनंददासजीकी इस उ
क्तिपर देखिये, आप फर्माते हैं कि उद्धव जू—

कोऊ स्याम-मंजु की मनोरम गिरि-गुंजनि दै
ब्रज ही बिहारी बस्यो नैकु हटि है नहीं।
कहै 'रतनाकर' न प्रेम-नद पैहै थूलि—
याकी हार-पात सून-सूखा परिहै नहीं ॥
रसनाँ हमारी चाह चातकी बनी है ऊधौ ?
पी-पी की बिहाइ और रट रहि है नहीं।
लौटि-पौटि बात को बवंडर बनावत क्यों
हिय तें हमारे घनस्याम हटि हैं नहीं ॥'

क्योंकि—

'हम परतच्छ में प्रमाँन अनुमाँनैं नाँहि—
तुम भ्रम-भौर मों भलैं ही बहिबौ करौ।
कहै 'रतनाकर' गुबिंद-ध्याँन धारैं हम—
तुम मन-माँनों ससा-सिंग गहिबौ करौ ॥
देखति सौ माँनति हैं सूधौ-न्याव जाँनति हैं,
ऊधौ ? तुम देखि हू अदेख रहिबौ करौ।
लखि ब्रज-भूप-रूप, अलख, अरूप, ब्रह्म—
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ ॥'

श्रीनंददासजी उक्त-उक्तिपर—'हमरे सुंदर स्याँम प्रेम कौ मारग-सूधौ' पर घन-आनँद वा आँनदघनजीकी एक सरस-उक्ति याद आ गयी है। देखिये न कितनी बाँकपन है, यथा—

'अति-सूधौ सनेह कौ मारग है, जहाँ नेंकु सयाँन कौ काम नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपुनपौ, झिझिकें कपटी, जे निसाँक नहीं ॥

'घनआनंद' प्यारे सुजान सुनौं ! इत एक ही दूसरो—आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला, मन लेति हौ, देति छटाँक नहीं॥

—शृंगार-संग्रह, १०२

उद्धव उवाच

(९)

स-गुन—शुद्ध सगुन, या सगुण, अथवा सरगुन, अर्थात् सत्त्व, रज और तमरूप तीनों गुणोंसे युक्त, साकार ब्रह्म, गुणों-सहित, उपाधि—लक्षण और वस्तुको और बतलानेवाला छल, कपट, अथवा 'उपाधि' वह जिसके संयोगसे कोई वस्तु किसी विशेषरूपमें और की और दिखलायी दे।

सांख्यानुसार बुद्धिकी उपाधिसे ब्रह्म कर्ताके रूपमें देख पड़ता है पर वास्तवमें है नहीं। अस्तु, इसी तरह वेदान्तमें मायाके सम्बन्धसे या असम्बन्धसे चेतनके दो—सोपाधि और निरुपाधि, अर्थात् उपाधिसहित (जीव) या उपाधिरहित (ब्रह्म) भेद माने गये हैं।

निरगुन—शुद्ध निर्गुण, अर्थात् सत्त्व, रज और तम नाम तीनों गुणों-रहित, दूर पृथक्। त्रिगुणातीत, अथवा जिसमें कोई गुण न हो। *निराकार*—जिसका कोई 'आकार' न हो—स्वरूप न हो। अथवा जिसके आकारकी कोई भावना न हो। *निरलेप*—शुद्ध निर्लेप, अर्थात् लेप-शून्य, जो विषयोंसे दूर हो, संग-रहित, पाप-पुण्यसे परे—पृथक्। स्वतन्त्र, निर्लिप्त। *तीनों-गुन*—तीन-गुण, अर्थात्

१ गुण देखिये पृ०—४६

सत्त्व, रज और तम—आदि। अच्युत—शुद्ध *अच्युत*—जो कभी 'च्युत' न हो, अर्थात् जिसका कभी नाश न हो, स्थिर, अमर, सदा सर्वदा रहनेवाला, अविनाशी, (जिसका कभी नाश न हो)।

'स्वरूपसामर्थ्यान्न 'च्युतो', न च्यवते, न—च्यविष्यते—इति 'अच्युतः'।' —विष्णुसहस्रनाम, शाङ्करभाष्य

अर्थात्—अपनी स्वरूप-शक्तिसे कभी च्युत नहीं हुए, न होते हैं और न होंगे—इसलिये—'अच्युत'।

'शाश्वत ९ शिवमच्युतम्।' —ना० उ० १३। १

भगवान् भी यही कहते हैं:—

"यस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा।"

बिस्व—शुद्ध विश्व, सारा संसार, सम्पूर्ण जगत्, चौदह[1] भुवनोंका समूह, सब, जैसे:—

"विश्वं अशेषं कृत्स्नसमस्तनिखिलाऽखिलानि निःशेषम्।'
—अमरकोश ३। २। ६५

सगुन, उपाधि, निरगुन, निराकार, निरलेप, अच्युत और बिस्वके सरस प्रयोग:—

"गोविंद" प्रभु गिरिधर जसुमति कें "सगुन" रूप है आप।
—गोविन्ददास

"बीर, कछु उरजी नहिं "उपाधि"।" —कृष्णदास
"ऊधौ, है "निरगुन" उत राखौ।" —सूरदास

---

१ चौदह-भुवन—"भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमत्, महातल, रसातल और पाताल।

"निरंजन, "निराकार", परमब्रह्म, परमेश्वर—
पछुरी अनेकु होइ ब्यापी बिश्वंभर''।" —रैमू बावरा

निराकार "निर्लेप" निरंजन 'आँनदघन' निर्मलं।"
—आनँदघन

घट-घट में ब्यापि रह्यौ "अच्युत" सोई—
भूलै मति मतिमंद बूर्यो जनम जाइगौ''।" —तानसेन

"विश्व" कुसल कारन विधिना, बिनती करि आने।"''
—नंददास

श्रीनंददासजी उक्त उक्तिपर यह श्रुति-वाक्य कितना फिट
ता है। जैसे:—

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-
पादम्''''''।" —मुण्डकोपनिषद् १।१।६

अथवा श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं:—

"सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान्।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥"
—श्रीमद्भागवत १०।४६।४०

श्रीसूर कहते हैं:—

ये हरि, सकल-ठौर के बासी।
पूरन ब्रह्म, अखंडित, मंडित, पंडित, मुनिन, बिलासी, ॥
सप्त-पताल, ऊर्ध, अरघ पृथ्वी, जल, नभ बरुन, बयारी।
अभ्यंतर-दृष्टी देखनि कौं, कारन-रूप-मुरारी॥
मन, बुधि, अहंकार, दस-इंद्री, प्रेरक थंभ-मनकारी।
ताके काज वियोगु बिचारति, ए अबला ब्रज-नारी॥
जाकौं जैसी रूप रुचै मन, सो अपबस-करि लीजै।
आसन, बैसन, ध्याँन, धारनाँ मन आरोहन कीजै॥

गोवरधन—गोवर्धन, गोरधन अर्थात् ब्रजका पर्वत विशेष।

यों तो 'गोवर्धन' का विस्तार गोलोकमें बारह-हजार कोसका कहा जाता है और गोलोक-विहारी भगवान्‌के आनंदसे उक्त गोवर्द्धन की उत्पत्ति कही जाती है, पर गर्ग-संहिताके कर्त्ता गोवर्धनकी उत्पत्ति ब्रजमें इस प्रकार कहते हैं—

'एक समय श्रीपुलस्त्य ऋषि पृथ्वी-पर्यटन करते हुए अतुल प्रतापशाली शाल्मली-द्वीपमें द्रोणाचलके यहाँ आये और वहाँ ऋषिने सुंदर रत्नमयी शिखरोंसे सुशोभित, सुगंधसे संयुक्त, वृक्षोंसे परिपूर्ण और दिव्य-पुष्पोंसे प्रफुल्लित, कंदराओंसे कलित, ऋषि-मुनियोंके उपयुक्त अनेक स्थान तथा पशु-पक्षियोंसे भरपूर उसके पुत्र 'गोवर्धन' को देखकर उसे काशी ले जानेके लिये याचना की। ऋषिके अनुनय-विनयसे गोवर्धनने मार्गमें कहीं भी न रखनेकी प्रतिज्ञापर ऋषिके साथ जाना कबूल किया, क्योंकि उस (गोवर्धन) का कहना था कि जहाँ भी आप रख देंगे वहाँसे पुनः में अगाड़ी न जाऊँगा, वहीं रह जाऊँगा। अस्तु; इस शर्तनामेके अनुसार ऋषि गोवर्धनको ब्रजके रास्ते काशी ले जाने लगे तो भगवत्कृपासे ऋषि इस स्थानपर जहाँ कि अब गोवर्धन-पर्वत वर्तमान है—लघुशंका आवश्यकता प्रतीत हुई और गोवर्धनको वहाँ रख आप उससे निवृत्त करने लगे, तदुपरान्त जब आप पुनः काशी चलनेको उद्यत हुए और गोवर्धनको उठाने लगे तो 'गोवर्धन' कहने लगा कि महाराज! अब क्षमा कीजिये, बस मेरा और आपका करार पूरा हो गया, मैं अब अगाड़ी नहीं जा सकता आदि-आदि। अतएव श्री

पुलस्त्य ऋषि अपनी आगे मनोवाञ्छा पूरी पड़ती न देख झुंझलाकर बोले कि—'जा दुष्ट ! तू तिल-तिल नित्य-प्रति यहाँ घटता रहेगा और कलियुगमें तेरा इस तरह नाश हो जायगा, इत्यादि ।'

—गर्गसंहिता 'गिरिगोवर्धनखण्ड'

गोवर्धन-धारणकी कमनीय-कथा श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कही है—व्रजवासी गोप-गण प्रतिवर्ष अच्छी वर्षा होनेके लिये शरत्कालमें इन्द्रकी पूजा किया करते थे । उन लोगोंका दृढ़ विश्वास था कि उक्त पूजा करनेसे हम सब तरहसे सुखी रहेंगे, जैसे—

नंद-महर सौं कहति जसोधा, सुर-पति-पूजा क्यों बिसराई ।
जाकी कृपा बसत ब्रज-भीतर, जाकी दई भई ठकुराई ॥
जाकी कृपा अन्न-धन पूरन, जाकी कृपा तें नव-निधि पाई ।
जाकी कृपा दूध-दधि बहुतक, सहस-मँथानी मँथत सदाई ॥
जाकी कृपा पुत्र भयौ मेरैं, कुसल रहौ बलराम-कन्हाई ।
'सूर' घरनि यौं कहति नंद सौं, दिन आयौ अब करौ सजाई ॥'

अस्तु, यशोदाके इस प्रकार याद दिलानेपर बड़े उत्साहके साथ इन्द्रपूजाका आयोजन होने लगा । उसी समय कहींसे खेलते-कूदते कृष्ण आ गये और लगे पूछने कि बाबा ! यह आज क्या हो रहा है ? बाबा नंदके सब कहनेपर आपने इन्द्र-पूजाके लिये मना करते हुए गोवर्धन-पूजाकी सलाह दी, यथा—

'बाबा, गोबरधन पूजौ आज ।
जामें गाय, गुवाल, गोपिका, सुखी सबन कौ राज ॥
जाकौं रुचि-रुचि बलिहिं बनावत, कहा सक सौं काज ।

मेरौ कह्यौ मानि अब लीजै, भरि-भरि सकटँन साज।
'परमानंद' चलौ सग आपें, घूधौं करत क्यों नाज ॥"

बाबाके लाड़िले तो थे ही, फिर इनकी बात क्यों न जाती, अस्तु, नंद बाबा सब गोपोंसे कहने लगे—

"हमारौ कान्ह कहै सो कीजै।
आवौ सिमटि सकल ब्रज-वासी, परवत कौं बलि दीजै॥
मधु, मेवा, पकवाँन, मिठाई, षट्-रस-बिंजन लीजै।
"आसकरन" प्रभु मोंहन नागर, पानि पखावरि पीजै॥"

अतएव इस आज्ञाके अनुसार गोपवर्गने इन्द्र-पूजनको विस्रा गोवर्धन पूजा की, जैसे:—

"गोवरधन पूंजति हैं ब्रजराई।
बल-मोंहन आगें दै लीने, गोप-बधू सँग लाई॥
दूध-दही भाजन भरि लीन्हें, पाइस बहुत बनाई।
बैठे हैं गोपाल सिखर पै, भोजन करत दिखाई॥
दीपमालिका-महा-महोत्सव, ग्वालँन लए बुलाई।
बिबिध-भाँति सग सखा सजाए, जो जाके मन-भाई॥
फूले फिरत सकल ब्रज-वासी, तिलक सिखावन गाई।
"लालदास" के प्रभु गिरि पूज्यौ, भई भगँन मन-भाई॥"

इन्द्र, इन (गोपों) के इस नये व्यवहारको देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और अपने मेघ-गणोंको बुलाकर ब्रजको डुबा देनेकी आज्ञा दी।

मेघँन सौं बोले सुर-राई। अहीरँन मोसौं करी ढिठाई॥
मेरी दीनौं करत बड़ाई। कौन बुद्धि मोहि दियौ भुलाई॥
सदाँ करत मेरी सिवकाई। अब सेवन परवत कौं धाई॥
हरी काम तुमकौं इंकराए। भली करी सेवा है आए॥
बेगि-बेगि सब ब्रज दै आवौ। पहिलैं परवत खोद-बहावौ॥

अब इहि मुनी इंद्रकी बाँनी । मेघन के मन धीरज आँनी ॥
"सूरदास" प्रभु सुनि घन समके। कापर क्रोध करत प्रभु जमके ॥"

सुर-पतिके इस आदेशानुसार मेघ व्रजपर आकर भीषण-उत्पात करने लगे। इसे न सह सकनेवाले उत्पातोंसे डरकर गोपवर्ग असहाय-सा रोता-कलपता कृष्णसे सहायताकी पुकार मचाने लगा—

"माधौ जू, राखौ अपनी ओट।
वे देखौ गोवरधन ऊपर, उठे हैं मेघ के कोट ॥
तुम ही सक्रकी पूजा मेंटी, बैर कियौ उन ओट।
नाहिंन नाथ महातम जान्यौ, भयौ हैं सारे तें खोट ॥
सात-द्यौस जल बरस सिरानों, अजयौ धुकुहि चोट।
कर्यौ उठाइ गिर राख्यौ कर पै, कीन्हीं निपट निचोट ॥
गिरिधारची, तिरनावत-मारची, जियौ नंद के ढोट।
"परमानंद" प्रभु इंद्र निवार्यौ, मुकुट चरन-तर लोट ॥"

उसी समय इस पदानुसार भगवान् श्रीकृष्णने गोप और गोकुल-की रक्षाके निमित्त गोवर्धन-गिरिको अपने बाँये हाथकी कली—सबसे छोटी उँगलीपर उठा लिया और सबको इसके नीचे बुलाकर आश्रय दिया। जैसे कोई बालक कमलनालको अपनी उँगलीपर नँचाता है उस तरह सात दिनतक आप गोवर्धन पर्वतको लिये रहे अपनी उस नाजुक और कोमल कली उँगलीपर। श्रीनंददासजीने उक्त अवसरका एक बड़ा सुंदर भावपूर्ण पद कहा है, जैसे—

"कॉन्ह-कुँवर के कर-पालव पै, मनौं गोवरधन नृत्य करै।
ज्यौं-ज्यौं तॉन उठति मुरली की, त्यौं-त्यौं लालन अधर धरै ॥
मेघ-मृदंगी मृदँग बजावत, दामिनि-दमक मानों दीप जरै।
ग्वाल ताल दै नीकें गावत, गायन के सँग सुर जो भरै ॥

देति असीस सकल गोपी-जन, बरखा की जल अमित झरै।
अति अद्भुत अवसर गिरिधर प्रभु, 'नंददास' के दुःख हरै॥"

मेघोंने सात-दिन और सात रात्रि महान् वृष्टि की, पर गोकुल निवासियोंका वे कुछ भी न बिगाड़ सके और थककर भाग गये तदुपरान्त इन्द्र भी भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णावतार मान गोकुलमें आये और पूजा-अर्चनाके पश्चात् स्तुतिकर अपने लोकको चला गया तथा इधर गोप-तथा गोप-बालाएँ उनके इस अपरिमित कृत्यपर आशीषें देने लगा। जैसेः—

"जीवौ जसोधा पूत तिहारौ, जिन गोवर्धन धारयौ।
बाँम-पाँनि पै राखि लयौ गिरि, बूड़त सबैंन उबारयौ॥
सात दिवस अति-वृष्टि लगाई, प्रबल मेघ बहु हारयौ।
बूँद न परसी काहू देखत, सुर-पति-मन लाचारयौ॥
लै सुरभी अभिषेक कियौ है, तन, मन, धन सब वारयौ।
"व्रजपति" की अति करत बीनती, पाँइ परयौ-बस हारयौ॥

पूत—बेटा, लड़का, पुत्र, अपत्य अथवा पूत—पवित्र या साफको भी कहते हैं, जैसेः—

"पूतं पवित्रं मेध्यं च······।"

—अमरकोश ३।२।९

व्रजनाथ—व्रजके नाथ, मालिक, प्रभु, स्वामी, कर्ता, प्रतिपालक—आदि।

गो, बन, अंजन, गोबरधन, पूत और व्रजनाथके सुंदर व सरस प्रयोग।

"आछी—"गो" ग्वालन सिंगारी, दौंनी द्विजन बुलाइ।"

—विट्ठलेशजी

"मूछि परी संदेश-सघन "घन" हौं अबला किम आउँ ।"

—इति भगवान

"अंजन" ऊपर खंजन वारौं नैन-चपलता मीन ।"

—हरिदास दूसरे

"गोवरधन" की सघन-कंदरा, रैनि-निवास कियो पिय-प्यारी ।"

—कृष्णदास

"ब्रज भयो महरि कें "पूत" जब यै बात सुनी ।" —सूर

'लालदास' प्रमुदित गिरि पूज्यौ, आगें करि 'ब्रजनाथ ।"

—लालदास

श्रीसूरने भी नंददासजीकी तरह उद्धवके निर्गुण कथनकी खिल्ली उड़ायी है, "हाथ, पाँइ नहिं नासिका, नैन, बैन नहिं कान-रूप वर्णनका भरपूर-मजाक उड़ाया है, यथा—

"मधुकर, यह आँनी तुम साँची ।
पूरन-ब्रह्म तिहारौ ठाकुर, आगें माया नाँची ॥
हुरि गाँउ न समझति कोऊ, कैसौ निरगुन होत ।
गोकुल बाँट परे नँद-नंदन, उहँ तिहारौ पोत ॥
को जसुमति ऊखल सौं बाँध्यौ, को दधि-माँखन चोरयौ ।
को ए दोउ-रूख हमारे, जमलार्जुन कौं तोरयौ ॥
को है वमन चढ़यौ तह-साखा, मुरली-मन-आकरषे ।
को रस-रास-रच्यौ वृंदावन, हरखि सुमन सुर बरषे ॥
ज्यौं हारयौ तय कत बिन बूझे, काहे जीभ पिरावत ।
तव जु 'सूर' प्रभु गए दूर लै, अब क्यौं नैन सिरावत ॥

अथवा:—

निरगुन, कौन देस कौ वासी ।
मधुकर, कहि समुझाइ, सौंह दै, बूझति-साँच न हाँसी ॥

कोई जनक ? कौन है जननी ? कौन नारि कौ
कैसौ बरन ? भेष है कैसौ ? किहिं रस कौ अ
पावैगौ पुनि कियौ आपुनौ जोरि करैगौ
सुनति मौन ह्वै रह्यौ बावरौ, "सूर" सबै मति

अथवा—

फिरि-फिरि कहा बनावति बातैं।
प्रातकाल उठि देखति ऊधौ, घर-घर माखन खातैं।
जिनकी बात कहति ही हम सौं, सो है अब लौ दूरि।
इहाँ न निकट जसोधा-नंदन, प्रान-सँजीवनि-मूरि।
बालक-संग लएँ दधि-चोरत, खात, खवावत, डोलत।
"सूर" सीस क्यों नीच्यौ नावत, अब काहे नहिं बोलत ॥"

अथवा—

"ए अलि, जनम-करम-गुन गाए।
हम अनुरागी जसुमति-सुतकी, नीरस-कथा बहाए ॥
कैसैं कर-गोबरधँन धार्‌यौ ? कैसे केसी-मार्‌यौ।
कालि-दमन कियौ कैसे अरु बक कौ बदन बिदार्‌यौ ॥
कैसैं नंद महोच्छव कीनों ? कैसैं गोप जु धाए।
पट-भूषन, नाँना-भाँतिन के, ब्रज-जुवतिन पहिराए ॥
दधि-माँखन के भाजन कैसैं, गोप-सखा लै धाए।
को बन-धातु चित्र अँग कीएँ, नाँचत भेष-सुहाए ॥
तब तें कछु न सुहाइ स्याँम-बिन, जुग सम बीतत जाँम।
"सूर" मरेंगी बिरह-बियोगिनि, रटि-रटि माधौ-नाँम ॥

यही बात श्रीरामदासजी कहते हैं। जैसे—

ऊधौ, सो मूरत हम देखी।
सिव-सनकादि सकल-मुनि-दुरलभ, ब्रह्म, इंद्र नहिं पेखी ॥

ऊधव अदेखा कैसें उर अवरेखा जाइ—
'रूप है न रेखा, काहूं देखा नहिं सूनों है॥'
—उपालंभ

इस विषयपर—नंददासजी उक्त निर्गुण-निरूपणरूप नोक्तिपर जरा 'ग्वाल' कविकी सरस-सूक्तिका मनोहर मजा दे यथा—

'जैसे कॉन्ह तैसे ही उद्धव-सुजॉन आए,
हैं सौ मेहमॉन पै मॉनन निकारें लेति।
लाख-बेरि 'अंजन' अँजायौ उन ऑखिन में
तिन कौं निरंजन कहि धूंड निरधारें लेति॥
'ग्वाल' कवि हाल ही तमालन में, बालन में
ख्यालन में खेले हैं किलोल-किलकारें लेति।
हॉं न परवेरी-जोग, घेरी-संग परवेरी,
जोग-परवेरी भेजि परवे हमारें लेति॥'

"हम अपने कर सों दियौ, ऊधौ अंजन जोइ।
दासी-सुत दासी करी, भयौ निरंजन सोइ॥"
—नवनीत

श्रीनवनीतजीकी इस सरस-सूक्तिपर एक सुन्दर संस्कृत-सूक्ति और याद आ गयी है, जैसे—

धन्या गोकुलकन्या यासामिह सत्यमद्य जगति।
यासां नयनसरोजे अंजनभूतो निरंजनो वसति॥

अन्तमें जरा जगन्नाथदास रत्नाकरजीकी मानसी भी नंददासजी-की इस उक्तिके साथ देखिये। आप फर्माते हैं कि उद्धव—

"कर बिनु कैसे गाय दुहिहै हमारी वह,
पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।

कहै 'रतनाकर' बदन-बिनु कैसें चाखि—
माँखन, बजाइ बैंनु गोधन गवाइ है ॥
देखै, सुनें, कैसें दग-स्रवन बिनाँ हीं हाइ,
भोरे ब्रज-बासिनि की बिपत बराइ है।
रावरौ अनूप कोउ अलख-अरूप ब्रह्म,
ऊधौ ? कहौ कौंन धौं हमारे कौंम आइ है ॥'

उद्धव-वचन

(११)

अंड—लोक-मंडल अथवा गोलाकार-संसार—लोक-पिंड, ब्रह्मांड, विश्व । ब्रह्मांड—ब्रह्मांडका कोमलरूप अर्थात् जगत, संसार, विश्व-गोलक, संपूर्ण-विश्व जिसके भीतर अनंत लोक हैं । चौदह-भुवनोंका समूह आदि-आदि ।

मनु भगवान् कहते हैं—स्वयंभू भगवान्ने प्रजा-सृष्टिकी इच्छासे पहिले जलकी सृष्टि की और उसमें बीज फेंका । अस्तु, उस बीजके पड़ते ही जलसे सूर्यके समान प्रकाशवाला एक स्वर्णाभ—अंड वा गोला उत्पन्न हुआ, जिससे पितामह ब्रह्माका जन्म हुआ । उसमें आपने एक संवत्सरतक निवास करके उस अंड वा ज्योतिर्गोलकमें एक वर्ष रहकर उसके दो—आधे-आधे विभाग किये और फिर उस ऊर्ध्व-खंडमें स्वर्ग आदि लोकोंकी और अधोखंडमें पृथ्वी-आदिकी रचना की । अतः यह विश्व-गोलक इसीसे 'ब्रह्मांड' कहा जाता है—आदि-आदि ।

लीला—क्रीड़ा, विहार, खेल, कौतुक……आदि ।

'द्रवकेलिपरीहासाः क्रीडा 'लीला' च नर्म्म च।'
—अमरकोश १।७।१२

और विलासको भी 'लीला' कहते हैं, जैसे—

'लीला' विलास-क्रिययोः.....................।'
—अमरकोश ३।४।२०१

अर्थात् विलास, स्त्रियोंकी शृंगार-चेष्टा, या भेद, या चेष्टा विशेष अथवा क्रिया—आदि 'लीला' कही जाती हैं।

'लीलां विदुः केलिविलासवेला-
शृंगारभावप्रभवक्रिया सः।'
—विश्वप्रकाशः

हाव—अन्तर्गत 'लीला' शब्दकी व्युत्पत्ति साहित्य-दर्पणमें श्री-विश्वनाथ चक्रवर्ती इस प्रकार करते हैं—

'अंगैर्वेषैरलंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः॥'

अस्तु, लीला—वह व्यापार जो कि चित्तकी उमंगसे केवल मनोरंजनके अर्थ किया जाय। रहस्य-पूर्ण व्यापार, विचित्र-काम। प्रेमयुक्त विवाद, प्रेम-विनोद आदि-आदि।

अवतार—देहान्तर धारण, मनुष्यरूपमें देव-विशेषका प्रकट होना—प्रकाशित होना, भगवान्‌का पृथ्वीपर प्रकट होना, उतरना, नीचे आना, जन्म लेना, शरीर-ग्रहण करना।

पुराणानुसार भगवान्‌के—पूर्ण-पुरुषोत्तमके चौबीस अवतार कहे जाते हैं, जैसे—

ब्रह्मा, वाराह, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेद-व्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुध, कल्कि, हंस और हय-ग्रीव—आदि·········, लेकिन मुख्य "दस" ही हैं ।

इन अवतारोंपर पीयूषवर्षी कवि श्रीजयदेवकी एक बड़ी सुंदर "अष्टपदी" है, जैसे—

"प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं,
विहित वहित्र चरित्रमखेदं······ ।
केशवधृत मीन-शरीर, जय जगदीश हरेः ॥
क्षितिरति विपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे
धरणि धरण किण चक्र गरिष्ठे ।
केशवधृत कच्छप रूप, जय जगदीश हरेः ॥
वसति दशन-शिखरे, धरणी तव लग्ना,
शशिनिकलंक कलेवनिमग्ना········ ।
केशवधृत शूकररूप, जय जगदीश हरेः ॥
तव कर-कमल वरे नखमद्भुत शृंगं,
दलित हिरण्यकशिपु तनु भृंगं ।
केशवधृत नरहरिरूप, जय जगदीश हरेः ॥
छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन,
पद-नख-नीर-जनित-जन पावन ।
केशवधृत वामनरूप, जय जगदीश हरेः ॥
क्षत्रियरुधिरमये जगदपगत पापं,
स्नपयसि पयसिशमितभव-तापं ।
केशवधृत भृगुपतिरूप, जय जगदीश हरेः ॥

रोकना—मनको इधर-उधर भटकनेसे रोकना और केवल एक ही वस्तुमें स्थिर करना—योग कहा है।

"योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु।"

अथवा—

"योगः कर्मसु कौशलम्।"

—गीता २। ५०

युगति—शुद्ध युक्ति, अर्थात् रीति, तरकीब, उपाय, ढंग, तदबीर। साधनकी क्रिया।

योगकी युक्तियोंका—साधनों व उपायोंका विश्लेषण करते हुए रसिकगण कहते हैं कि पहिले स्थूल-शरीरका—विषयका आधार लेकर व विषयोंको त्यागता हुआ सूक्ष्मका ध्यान कर अपना चित्त स्थिर करना चाहिये। इसके बाद उपादान ये कहे जाते हैं—अभ्यास, वैराग्य, ईश्वरका प्रणिधान, प्राणायाम, समाधि। कोई-कोई इन बाह्य उपकरणोंको अदल-बदलकर योग-साधनके आठ अंग मानता हुआ उनका विभाग इस प्रकार करता है—सिद्धिके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं। इन आठों अंगोंको लेकर यदि "रसरूप" ने गोपियोंको योगकी जो समुचित शिक्षा दी है वह अपूर्व है, जैसे—

आसन—

'असी चार-लच्छ जाति, असी चार-लच्छ भाँति,
(आसन) सुनाए सिव सिवा के प्रसँन हैं।
तामें असी-चार कमी क्रम कै कमी है देह—
ताहू में सरोज सिद्ध, सिद्ध के प्रसँन हैं॥

दूसरौ न रहै कौम, आगि-आगि आठौं-जाम,
'रसरूप' आमैं जोगी जीव सौं भरे रहैं।
हारैं हियौ हठि कैं, न इंद्रिन कौं अहार दैंइ,
हार लौं हिए मैं 'प्रत्याहार' कौं धरे रहैं ॥'

धारणा—

'थंभनि पुहुमि हियौ ब्रह्म तैं न चलै चित्त—
द्राविनी उदक कंठ कैसौ थिर मौंनें हैं।
दहनी दहँन मौल, कौंम-रुद्र लाइ है सो—
भ्रामिनी पवन मौंह मेघ गति मानें हैं ॥
सोगिनी अकास ब्रह्म-रंध्र सदौं सिव पास,
आमैं महा-मुक्ति की उपाइ उर आनें हैं।
पाँच-पाँच घरी प्रान, लीन करै पाँचौं-ठौर,
पाँचौं-तत्त धारना कौं 'धारना' बखौंनें हैं ॥'

ध्यान—

'प्रथमै पदस्थ ध्यावैं अच्छर कौं स्वस्थ ह्वै कैं,
दूसरौ तनस्थ ध्यान गुरु कौ गनंत है।
त्रिकुटी मैं देखिऐ स्वयं-प्रकास-जोति-रूप,
रूप मैं अभेद-भेद तीसरौ भनंत हैं ॥
'रसरूप' दसौं-दिसि पूरन-परस नाँहि,
चौथौ रूपातीत रूप रहत नितंत हैं।
नभ कैसौ पंछी मन फेर मैं रहत जाँ के—
आवत है फेर, जात पावन न अंत है ॥'

समाधि—

'हरख, सोग, माँनामाँन, निंदन, प्रसंसा जाँन,
ऊँच-नीच रचन प्रपंच की कहाँनी मैं।

"आयौ सोई महर-घर, "परब्रह्म" धर देह ।"

—मानदास

"श्याम "धाम" सरसुती सकुचि रही—
या वानिक बरनत नहिं कोउ—कवि ।"

—हित हरिवंश

श्रीनंददासजीकी इस उक्ति—

"जाहि कहौ तुम्ह कान्ह, ताहि कोउ पिता न माता"

—पर श्रीमद्भागवतकी यह सूक्ति याद आ जाती है, यथा—

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥

श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ३८-३९

अथवा—

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥

—श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ४२-४३

श्रुतियाँ भी यही कहती हैं—

"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।"

—मुण्डकोपनिषद् २ । १ । २

"आपी सोई महर-घर, "परमब्रह्म" धर देह ।"

—मानदास

"श्रीम "धीम" मरसुती सकुचि रही—
या बानिक बरनत नहिं कोउ—कवि ।"

—हित हरिवंश

श्रीनंददासजीकी इस उक्ति—

"जाहि कहौ तुम कान्ह, ताहि कोउ पिता न माता"

—पर श्रीमद्भागवतकी यह सूक्ति याद आ जाती है, यथा—

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥

श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ३८-३९

अथवा—

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥

—श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ४२-४३

श्रुतियाँ भी यही कहती हैं—

"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।"

—मुण्डकोपनिषद् २ । १ । २

गोपी-वचन

(१२)

जोग—योग्य, उपयुक्त, उचित, पात्र, अधिकारी, लायक, काबिल । *प्रॉन*—शुद्ध प्राण, अर्थात् शरीरकी वह वायु,—हवा कि जिससे मनुष्य जीवित रहता है । हृदयस्थ वायु, जीव, अनिल, वायु निश्वास ।

"समीरमारुतमरुज्जग"त्प्राण" समीरणाः ।"

—अमरकोश १ । १ । ५८

सच्छास्त्रकारोंने देश-भेदसे प्राणके दस भेद माने हैं, जैसे—"प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनंजय", पर इनमें मुख्य पूर्व-कथित पाँच ही माने जाते हैं और ये ही पञ्च-प्राण नाम प्रसिद्ध हैं । ये सब मनुष्य शरीरके भिन्न-भिन्न विभागोंमें कार्य किया करते हैं और इनके प्रकुपित होनेसे ही शरीरमें अनेकानेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इन सबमें उक्त—"प्राण" ही सर्वोपर माना जाता है । जिस वायुको हम अपने नथुने-द्वारा—नाकके छिद्र-द्वारा साँस-रूप भीतर ले जाते हैं वही 'प्राण' कहलाता है । इसीपर मनुष्य और पशु-आदिका जीवन है । इस वायुका मुख्य-स्थान हृदय माना जाता है और प्राण धारण करनेके कारण ही साँस लेते मनुष्य और जन्तुओंको प्राणी कहा जाता है । क्योंकि मरनेपर श्वास-प्रश्वासका—अथवा इस वायुका गमनागमन बंद हो जाता है और लोग कहने लगते हैं कि इसके प्राण निकल गये। शास्त्रमें प्राण निकलनेके मार्ग—आँख, कान, नाक, मुँह, नाभि,

"गोवरधन-धर-स्याम-सिंध में, परयौ "प्रॉन" कौ बेरौ।"
—चतुर्भुजदास

"अति-गंभीर, बुद्धि कौ आलह्, प्रेम—"पियूख" मरयौ॥"
—परमानंददास

"धूरि" भरे अँग खेलत मोंहन, आछी बनी सिर सुंदर चोटी।"
—सूरदास

जोग—उपदेशके अनन्तर श्रीसूरने भी प्रेमकी महत्ता दिखलाते हुए कुछ ऐसा ही कहा है, यथा—

ऊधौ, हमहिं न जोग सिखैऐ।
जिहि उपदेस मिलैं हरि हमकों, सो व्रत-नेंम बतैऐ॥
मुक्ति रहौ घर-बैठि आपुने, निरगुन सुनि दुख दैऐ।
जिहि सिर-केस कुसुम-भरि गूँधे, तिहि कैसें भसम चढ़ैऐ॥
जाँनि-जाँनि सब मगन भए हैं, आपुन-आपु लखैऐ।
"सूरदास" प्रभु सुनौं नवौ-निधि, बहुरि कबौ व्रज ऐऐ॥

सूरके इस कमनीय खप्पर पर किसी उर्दू कविकी यह उक्ति भी सुन्दर है, जैसे—

"आँखें नहीं हैं चहरे पर तेरे फकीर के।
दो ठीकड़े हैं भीख के, दीदार के लिये॥"

अथवा—

"ऊधौ, करि रहीं हम जोग।
कहा ऐतौ बाद ठाँनें, देखि गोपी-भोग॥
सीस सेली, केस मुद्रा, कनक-बीरी बीर।
बिरह-भसम चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथाचीर॥
हृदै सिंगी, टेर-मुरली, नैंन खप्पर हाथ।
चँहत हैंम हरि-दरस-भिच्छा, देंह दीनानाथ॥

भरयौ सकल तन-मन तौहूँ नहिं, माँन्यौ उमड़ि बह्यौ।
नैंननि सौं, बैंननि सौं रोक्यौ, नाहिंन परत रह्यौ॥
लघु-घट ता में रूप-समुद रह्यौ, क्यों न उमँगि निकरै।
ता पै लाए ग्यॉन कहौ तेहि जिय कित लाइ धरै॥
कौन कहै रखिबे की उलटो बहि जैहै या धार।
"हरीचंद" मधुपुरी जाहु तुम, ह्याँ नहि पैहौ पार॥

रत्नाकरजी कहते हैं—

"चुप रहौ ऊधौ, सूधौ-पथ-मथुरा कौ गहौ,
कहौ ना कहाँनी जो विविध कहि आए हौ।
कहै "रतनाकर" न बूझिहैं बुझाएँ हम,
करत उपाइ वृथाँ भारी भरमाए हौ॥
सरल-सुभाँव-मृदु जाँनि परौ ऊपर तैं,
पर उर घाइ करि लौंन सौ लगाए हौ।
रावरी-सुघाई मैं भरी है कुटिलाई कूटि-
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हौ॥

क्योंकि—

वे तौ बस बसन रँगावै मन रँगत ए-
भसम-रमावै वे, ए आपु हीं भसम हैं।
साँस-साँस माँहि बहु बासर बितावैं वे,
इनकै प्रतेक साँस जात ज्यौं जनम हैं॥
द्वै कैं जग-मुनि सौं विरत मुनि चाँहत वे,
जानत ए मुनि-मुनि होइ विष-सम हैं।
करिकैं विचार ऊधौ सूधौ मन-माँहि लखौ,
जोगी सौं वियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं॥"

क्योंकि—

> याही मुख-मंजुल की चहति मरीचें सदाँ,
> हम कौं तिहारी ब्रह्म-जोति करिबौ कहा।
> कहै "रतनाकर" सुधाकर-उपासिनि कौं
> भाँनु की प्रभानिकौ जुहारि करिबौ कहा॥
> भोगि रहीं बिरचे बिरंच के सँजोग सबै
> ताके सोग सारन कौं जोग चरिबौ कहा।
> जब ब्रज-चंद को चकोर-चित, चारु भयौ,
> बिरह-चिंगारिनि सौं फेरि डरिबौ कहा॥"

उद्धव-वचन

(१३)

ईस—शुद्ध ईश, अर्थात् प्रभु, स्वामी, महादेव, ऐश्वर्यशाली—आदि-आदि।

"शम्भु "ईशः" पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः।"

ईश—शब्दके और भी अर्थ होने हैं जैसे—"ग्यारहकी संख्या, आर्द्रा-नक्षत्र, राजा, एक उपनिषद, ईशान-कोण" पर यहाँ उक्त-शब्द "शिव"के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इसका सम्बन्ध "धूरि" शब्दसे जुड़ा हुआ है।

धूरि-छेत्र—शुद्ध धूलि-क्षेत्र, अर्थात् पृथ्वी, जमीन, धरती। अथवा धूरि-छेत्र "मथुरा" का भी नाम है यथा—

> "धूरी-छेत्र" मथुरा-पुरी, जहाँ भये भगवान।" —[illegible]

करम—शुद्ध कर्म, अर्थात् जो किया जाय, अथवा जो करना हो।

> "कर्म" क्रिया—[illegible]………।
> अमरकोश १।१।१

तीन-भुवन, अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल। उतपति—शुद्ध उत्पत्ति, अर्थात् पैदा होना, जन्म लेना। नास—शुद्ध, नाश अर्थात् क्षय, ध्वंस, लय, अदर्शन, पलायमान, गायब होना आदि।

अन्तो, "नाशो" द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनो स्त्रियाम्।"

—अमरकोश २। ८। ८५

सांख्यवाले कहते हैं कि कारणमें लय होना ही नाश है, क्योंकि जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता। कारणमें लय हो जानेसे सूक्ष्मताके कारण वस्तुका बोध नहीं होता, अस्तु जब कोई कार्य कारणमें इस प्रकार लीन हो जाता है कि वह फिर कार्यरूपमें न आ सके तब नाश वा आत्यन्तिक नाश कहलाता है। नैयायिक नाशको ध्वंसाभाव मानते हैं।

मुक्ति—आवागमनसे पृथक्, पुनः जन्म न लेना, अथवा दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और परम-नित्य सुखकी प्राप्ति। कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, मोक्ष, अपवर्ग और परित्राण आदि।

"मुक्तिः" कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसाऽमृतम्।"

—अमरकोश १। ५। १५

मुक्ति, "·······सालोक्यादिचतुष्टयम्" के अनुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य" चार प्रकारकी कही जाती है, पर श्रीमद्भागवत पाँच प्रकारकी "मुक्ति" का भी उल्लेख करता है। जैसे—

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत";
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

—श्रीमद्भागवत ३। २९। १३

तीन-भुवन, अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल । उतपत्ति—शुद्ध उत्पत्ति, अर्थात् पैदा होना, जन्म लेना । नास—शुद्ध, नाश अर्थात् क्षय, ध्वंस, लय, अदर्शन, पलायमान, गायब होना आदि ।

अन्तो, "नाशो" द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनौ स्त्रियाम् ।"

—अमरकोश २ । ८ । ८५

सांख्यवाले कहते हैं कि कारणमें लय होना ही नाश है, क्योंकि जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता । कारणमें लय हो जानेसे सूक्ष्मताके कारण वस्तुका बोध नहीं होता, अस्तु जब कोई कार्य कारणमें इस प्रकार लीन हो जाता है कि वह फिर कार्यरूपमें न आ सके तब नाश वा आत्यन्तिक नाश कहलाता है । नैयायिक नाशको ध्वंसाभाव मानते हैं ।

मुक्ति—आवागमनसे पृथक्, पुनः जन्म न लेना, अथवा दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और परम-नित्य सुखकी प्राप्ति । कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, मोक्ष, अपवर्ग और परित्राण आदि ।

"मुक्तिः" कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसाऽमृतम् ।"

—अमरकोश १ । ५ । १५

मुक्ति, "········सालोक्यादिचतुष्टयम्" के अनुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य" चार प्रकारकी कही जाती है, पर श्रीमद्भागवत पाँच प्रकारकी "मुक्ति" का भी उल्लेख करता है । जैसे—

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत";
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।

—श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १३

अर्थात् सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व यानी सायुज्य", लेकिन मुख्य चार ही हैं। सालोक्य-मुक्ति उसे कहते हैं—जब जीव अपने आराध्यदेवके साथ एक-लोकमें—एक जगह वास करे। सामीप्य-मुक्ति, जीवका भगवान्के समीप—पास पहुँचनेको कहते हैं और सारूप्य—मुक्ति उसे कहते हैं जब कि उपासक अपने उपास्यके रूप-जैसा हो जाय, अर्थात् समान रूप हो जाय—एकरूपता ग्रहण कर ले तथा सायुज्य-मुक्ति वह कि उपासक उपास्यमें मिल जाय, एकरूप हो जाय, अर्थात् वह वही हो जाय।

मुक्तिके विषयमें पुराण और साम्प्रदायिक—आचार्योंमें बड़ा विभेद है, कोई चार प्रकारकी मुक्ति मानते हैं तो कोई पाँच प्रकारकी। श्रीमद्भागवतमें भी चार प्रकारकी और पाँच प्रकारकी मुक्तिका उल्लेख मिलता है, जैसा उद्धृत किया जा चुका है। "ब्रह्मवैवर्त' प्रकारकी ही मुक्तिका उल्लेख करता है। यथा—

"मुक्तिस्तु" द्विविधा" साध्वि! श्रुत्युक्ता सर्वसम्मता।
निर्वाणपददात्री च हरिभक्तिपदानृणाम्॥"

—प्रकृति

नामोल्लेखमें भी मतभेद है। कोई तो सालोक्य, स सामीप्य, सारूप्य और एकत्व, अर्थात् सायुज्यको पाँच प्रकारकी मानते हैं और कोई "सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सायुज्य (एक और निर्वाण"—आदि पाँच प्रकारकी मुक्ति मानकर, श्रीमद्भागव उक्त श्लोकका ही पाठ बदल देते हैं। जैसे—

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।"

पाठान्तर—

सार्ष्टिसारूप्यसालोक्यनिर्वाणैकत्वमप्युत ।

चार प्रकारकी मुक्ति माननेवालोंमें भी मतभेद है। कोई "सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य आदिको—

.........."सालोक्यादिचतुष्टयम् ।"

—श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६७

मुक्ति-चतुष्टय मानता है, तो कोई सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सायुज्यरूप मुक्ति-चतुष्टयको मानता है । इसी प्रकार मुक्तिकी व्युत्पत्तिमें भी मतभेद देखनेको मिलता है । वेदान्तिक कहते हैं—

"नित्यसुखावाप्तिः "मुक्तिः ।"

अर्थात् नित्य-सुखकी प्राप्ति ही मुक्ति है। नैयायिक कहते हैं—

आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः "मुक्तिः" ।"

अर्थात्—अत्यन्त दुःख-निवृत्ति ही मुक्ति है । भरत-मुनि कहते हैं—

शरीरेन्द्रियाभ्यात्मात्मनो मुक्तत्वं "मुक्तिः ।"

परब्रह्म-पुर-वास—परब्रह्मके पुर—नगर, गाँवका बास, अर्थात् रहना । स्थान, वास-स्थान—रहनेका स्थान ।

परब्रह्म—जगत्से परे, अर्थात् निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म ।

पुर—

पुरोधिकमुपर्य्यऽग्राण्य अगरे नगरे "पुरम्" ।"

—अमरकोश ३ । ४ । १८५

निंदी, सदगति, बली, त्रिभुवन, उतपत्ति, नास, मुक्ति, परब्रह्म, पुर और बासके सरस प्रयोग।

"निंदी" का सुरपति की पूजा।

—परमानन्ददास

"सदगति" होति चरन-चित लाएँ।

—गुपालदास

"बली" जु ऐसे होहु, जाइ मारौ किनि कंसहिं।

—कुम्भनदास

"त्रिभुवन"—सोभा लूटि सबौं राधिका बनाई।

—ग्वालदास

लै "उतपति" कौ कारन यही।"

—सूरदास

"भक्ति-विपति कौं "नास" करन मैं तनक बार नहिं लावत।"

—जानकीदास

"सबै बैकुंठ "मुक्ति" मोच्छ पाए।" —नानक

"सो "परब्रह्म" प्रघट ह्वै ब्रज में लूटि-लूटि दधि खायौ है।"

—परमानन्ददास

"अब कहौ कैसें या "पुर" बसिऐ।" —स्यामदास

"महरि, हम छाँड्यौ हो यह "बास"।"

—नागरीदास प्राचीन

कुछ ऐसी ही कर्मकी महत्ता, श्रुतियाँ भी प्रतिपादित करती हैं, यथा—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।"

—ईशोपनिषद् २

"तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ—
यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ३।२।१३

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥"

—कठोपनिषद् ५।७

श्रीमद्भगवद्गीता भी यही कहती है—

"नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥५॥"
"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥६॥"

अथवा—

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥"
"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥९॥"

—श्रीमद्भगवद्गीता ३।५ से ९

और भी—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥"
"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥"

—श्रीमद्भगवद्गीता १८।४५-४६

श्रीमद्भागवत कहती है—

"कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वातदर्पणम् ।"

—अध्याय ३ । १०

श्रीविष्णुपुराणमें कहते हैं—

"कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम् ।"

—प्रथम अंश १२

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

"करम प्रधान बिस्व रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावहिं साखा ॥"

—रामचरितमानस

गोपी-वचन

(१६)

पाप—वह कर्म, जिसका लोक-परलोकमें अशुभ फल हो। वह आचरण, जिसके करनेसे अदृष्टमें अशुभता उत्पन्न करे। वह कर्म, जो कर्ताका अधःपात करे अथवा ऐसा कार्य जिसका परिणाम कर्ताको दुःखप्रद हो। व्यक्ति और समाजके लिये अहितकर आचरण। धर्म और नीति-शास्त्रोंसे निंदित आचरण। अनाचार, गुनाह, नि काम, अकल्याणकर कर्म, अधर्म, कलुष, कल्मष, अघ—आदि।

"अस्त्रीपङ्कं पुमान्पाप्मा "पापं" किल्बिषकल्मषम् ।"

—अमरकोश १ । ५ ।

श्रीव्यास-वचनानुसार' "पाप" और "पुण्य" की एक व्या और भी है। जैसे—

"परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम् ।"

वासना—इच्छा, कामना, वाञ्छा, चाह, प्रायश
किसी पूर्व स्थितिके जमे हुए प्रभावसे उत्पन्न मानसिक द
भावना, संस्कार, स्मृत हेतु। न्यायानुसार देहात्मबुद्धिज
संस्कार।

रोग—व्याधि, पीड़ा, दुःख, शारीरक अस्वस्थता
वह अवस्था जिससे शरीर भले प्रकार न चल सके और
जीनेमें संदेह हो। बीमारी, मर्ज आदि।

"............"रोग"—व्याधिगदामयाः"

पाप, पुन्न, सरग, भोग, बिषै-वासना और रोगादि श
सरस प्रयोग।

"पाप" करति ही जनम गँवायौ, भज्यौ न नेंकु जगदीस।"
—राम

"उदयौ "पुन्न" कौ पुंज साँवरौ, सकल सिद्धि दातार।"
—चतुर्भुज

"मार्यौ भूमि पलोटि स्याँम नें, ततछिन "सरग" गयौ।"
—

"करम-अकरम करि-करि या जगमें, भोगत है नितै "भोग।
—ज्ञान

"बिषै"-सन अबहूँ मुख ना मोरत।"
—जर्ना

"वासना" अबहूँ नाहिं बुझानी।"
—गदाध

"भातु उर उपज्यौ हो, मयौ "रोग"।"

"करम पाप औ पुन्न, लोह-सोने की बेरी", अर्थात् कर्म रूप पाप और पुण्य, लोहे व सोनेकी बेड़ियाँ हैं। अच्छे वा बुरे दोनों प्रकारके ही कर्म, जीवात्माको बाँधनेवाली लोह और स्वर्ण जैसी बेड़ियाँ है। अस्तु: उक्त बेड़ियोंसे, अथवा कर्मरूप बंधनोंसे, जीवात्मा तब ही मुक्त होता है जब कि वह कर्मकाण्डका परित्यागकर, परमात्माकी सच्चे प्रेमसे आराधना करने लगे। कर्म-अकर्मकी चिन्ता न कर, सच्चे दिलसे उसके ध्यानमें लग जाय। क्योंकि कर्म, स्वर्ग-नर्क, भोग-रोगके साधन हैं, भगवत्प्राप्तिके नहीं। जैसा कि श्रुतियाँ कहती हैं, यथा—

"एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषते।"
—कौषितक्योपनिषद् ३। ९

"………। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी [illegible]र्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, [illegible] पापेन। अथ खल्वाहुः काममयम् एवायं पुरुष इति स यथा[illegible]ो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म [illegible]ते तदभिसंपद्यते।"
—बृहदारण्योपनिषद् ४। ४। ५

गीतामें यही कर्मकी व्यवस्था, श्रीभगवान् भी अर्जुनके प्रति [illegible]ेहुए कहते हैं:—

"युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥"
—गीता ५। १२

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥"
"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥",
"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥"
"प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥"
—गीता ३। २५, १९, २८, २९*

"कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥"
"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥"
"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥"
"निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥"
"यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते॥"
—गीता ४। १७ १८, २०, २१, २२

कुछ ऐसी ही बात श्रीमद्भागवतमें राजा-निमिके प्रति 'अन्तरिक्ष' द्वारा भी कहलायी गयी है, जैसे—

---

* हमने गीताकी इन उक्त सूक्तियोंको क्रम-विपर्ययके साथ उद्धृत किया है। लेकिन लाला कन्नोमलकृत "गीतादर्शन" के अनुसार उक्त सूक्तियोंका अर्थक्रम ठीक है।

"कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत् ।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥
इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।
आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥

—श्रीमद्भागवत ११ । ३ । ६, ७

"एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
स तुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥"

—श्रीमद्भागवत ११ । ३ । २०

"कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः ।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥"
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥

—श्रीमद्भागवत ११ । १० । २१, ३१

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी ।
ईस देइ फल हृदै बिचारी ॥
काहु न कोउ सुख दुखकर दाता ।
निज कृत करम भोग सब भ्राता ॥

—रामचरितमानस, अयोध्या०

दादू-दयालजी कहते हैं—

"राहु-गिलै ज्यों चंद कों, गहन गिलै ज्यों सूर ।
करम गिलै यों जीव कों, नख-सिख लागै पूर ॥
करम-कुहाड़ा अंग-बन, काटत बारंबार,
अपने हाथों आपको काटत है संसार ॥"

जगजीवन साहब फर्माते हैं—

कोउ बिनु भजन तरिहै नाँहिं।
करैं आइ अचार केतो, प्रात नित अन्हवाँहिं॥
दान-पुन्नि करि तपस्या, बरत बहुत रहाँहिं।
त्यागि बस्ती, बैठि बन महँ, कंद-मूरहिं खाँहिं॥
पाठ करि, पढ़ि बहुत विद्या, रैन-दिनहिं बकाँहिं।
गाइ बहुत बजाइ बाजा, मनहिं समुझति नाँहिं॥
करहिं स्वासा बंद कष्टित, भौंहकी गति आँहिं।
साधि पवन चढ़ाइ गगनहिं, कमल उलटै नाँहिं॥
साध नहिं केहु कीन्हि ऐसें, सीखि बहुत कहाँहिं।
प्रीति-रस मन नाँहिं उपजत, परे ते भव माँहिं॥
जस सँजोग-बियोग तैसें सत अच्छर दुइ आँहिं।
रटत अंतर भेंटि गुरु तें, मंत्र अजपा माँहिं॥
कहौं प्रगट पुकारि जिहि के प्रीति अंतर आँहिं।
'जगजीवनदास' रीति अस तब चरन मँह मिलि जाँहिं॥"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं—

"अहो, इन झूठेन मोहि भुलायौ।
कबहुँ जगत के कबहुँ सरग के, स्वाद न मुहिं ललचायौ॥
भलें होइ किन लोह-हेंमे की पुन्न-पाप दोउ बेरी।
लोभ मूल परमारथ-स्वारथ, नामहिं में कछु फेरी॥
इनमें भूलि कृपा-निधि तुमरौ चरन कमल बिसरायौ।
तेहि सों भटकति फिरयौ जगत में, नाँहक जनम गँवायौ॥
हाइ-हाइ करि मोहि छाँड़िकें कबहुँ न धीरज धारयौ।
या जग जगती जोर अगिनि में आयुस-दिन सब जारयौ॥
करौ कृपा करुना-निधि केसव, जग के जाल-छुड़ाई।
दीन-हीन "हरिचंद" दास कों बेगि लेहु अपनाई॥

'उद्धव'-वचन

(१७)

पद्मासन—पद्म—कमल-समान आसन। योगका आसन-विशेष जिसमें पाल्थी मारकर बैठा जाता है। अथवा—बाँईं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बाँयाँ पैर रखकर बाँये पैरका अँगूठा बाँये हाथसे और दाहिने पैरका अँगूठा दाहिने हाथसे पकड़कर नेत्र-द्वयको नाककी नोकपर रखनेसे—देखनेसे 'पद्मासन' होता है। कोई-कोई इसे 'बद्ध-पद्मासन' भी कहते हैं।

योगके चौरासी आसन कहे जाते हैं, जैसे—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वीरासन, अर्द्धासन, बद्ध-पद्मासन, सिद्धासन, महामुद्रा पश्चिमोत्तानासन, मृतासन, गरुड़ासन, कमलासन, मयूरासन—आदि। पर अष्टाङ्गयोगमें मुख्यतया—'पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन, वीरासन आदि पाँच प्रकारके आसनोंका ही उल्लेख मिलता है।

इंद्री—या इन्द्रिय, अर्थात् वे अवयव जिनके द्वारा विषयोंका ज्ञान हो। वह शक्तियाँ जिनसे बाहरी-विषयोंका बोध हो, अथवा भिन्न-भिन्न गुणोंके भिन्न-भिन्न रूपोंका अनुभव हो।

''हृषीकं विषयीन्द्रियम्।''

—अमरकोष १।५।१०

सांख्यवालोंने कर्म करनेवाले अवयवोंको भी इन्द्रिय मानकर 'इन्द्रियों'के दो विभाग—'ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय'से किये हैं। ज्ञानेन्द्रिय—जिनसे केवल विषयोंके गुणोंका अनुभव हो, उन्हें कहते

हैं। जैसे—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना और त्वचा।
कहते हैं—जिनके द्वारा विविध कर्म किये जायँ और
हैं—वाणी, हाथ, गुदा, पैर और उपस्थ। वेदान्तवाले
एक उभयात्मक अन्तरेन्द्रिय—मनको, मन, बुद्धि,
चित्तरूप चार विभाग कर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियमें
प्रकारको मानते हैं।

"कर्मेन्द्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादिधीन्द्रिय

ब्रह्म-अगिन—शुद्ध ब्रह्म-अग्नि, अर्थात् ब्रह्मरूप अ
ब्रह्म-अग्निमें कर्मोंको जलाकर।

श्रीनन्ददासजीने इस छन्दमें कर्मोंका हनन करने
उनको त्यागनेके लिये ही अधिकरण बतलानेको ब्रह्मको अ
क्योंकि ब्रह्म-ज्ञानी, कर्मोंका ब्रह्ममें ही अधिकरण करनेसे
करते हैं। जैसा श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं, यथा—

"ब्रह्माग्नौ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।"

—तैत्ति

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥"

अथवा—

"ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।"

(गीता ४। २

समाधि—ध्यान-योगकी क्रियाविशेष। सबको छोड़ि
[illegible]

समाधिमें ध्याता और ध्येयका बोध होता है और निरतिशय-समाधिमें वेदान्तियोंका अन्तिम अनुभव ही वर्तमान रह जाता है।

कहते हैं योगका चरम फल····समाधि है और यह आठ अंग—यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान-धारणा आदिमें मुख्यरूपसे अन्तिम अंग माना जाता है। समाधि-अवस्थामें साधक सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है, चित्तकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और बाह्य-जगत्से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसे अनेक प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और अन्तमें 'कैवल्य' भी। योगदर्शनमें 'समाधि' के कई भेद बतलाये हैं।

लीन—मिलना, समा जाना, डूबना, तन्मय, तत्पर—आदि। साजुज—शुद्ध सायुज्य अर्थात् एक प्रकारकी मुक्ति। जिसमें साधक या भक्त साध्यमें—'ईश्वरमें मिल जाता है, एकत्वको प्राप्त हो जाता है, अभेदत्वको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वह वही हो जाता है।

पदमौसन, इंद्री, ब्रह्म-अगिन, समाधि, लीन और साजुज्जादि शब्दोंके सरस प्रयोग।

"ना हम "पदमौसन" कौं मारें, जोग-जुगत ना साधैं।"

—रामदास

"इंद्री" अबहुँ न बिषै तजत।" —उद्धवदास

"ब्रह्म-अगिन" जरि मुक्ती पावौ।"

—गुपालदास

"सिद्ध-समाधि" स्वंत नहिं दरसी, मौंहनी मूरत प्यारी।"

—रामदास

मन अब ऐसौ "लीन" भयौ। —मुरारीदास

"साजुज्ज-मुक्ती" कहाँ बखान।
बेद-पुरान सबै परमान॥" —दूलन

गीतामें भगवान् भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥"
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
—गीता २ । ४८ ।

क्योंकि—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥
—गीता ३ । ९

श्रीमद्भागवतमें भी यही कहा है—

"नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(एकादश ३ । ४५

श्रीसूर कहते हैं—

जोगी पदमासन बिन लागी।
नैन-मूँदि अंतर-गति ध्यावी॥
हृदै-कँमल मन जोति प्रकासी।
सो अच्युत अबगति अबनासी॥
इहि प्रकार बिरहा-गन सैरी।
"सूर" कौन अराधनहिं भैरी॥

गोपी-वचन

१८

भक्त—सेवा करनेवाला, भजन करनेवाला, भक्ति करनेवाला। सेवक, तत्पर, अनुगत, उपासक। गीतानुसार भक्त, आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी आदि*। श्रीमद्भागवत-अनुसार भक्त नवधा-भक्तिः—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

—के करनेसे नौ प्रकारका होता है। इसी तरह श्रीवल्लभाचार्यने भक्तोंको अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा नामसे प्रथम दो भेदकर पुनः उसके सात्त्विक, राजस और तामसादि अठारह भेद मान और एक निर्गुण मिला, अठारह—नहीं उन्नीस भेद माने हैं। यथाः—

"राजसी तामसी चैव सात्त्विकी निर्गुणा तथा।
एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्योनिरूपिताः॥
तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम्।
गुणातीताः सात्त्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा॥
कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः।

---

* सकाम-भक्तोंके आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार भेद होते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है। अस्तु, जो अपनेपर आये हुए संकटोंसे मुक्ति पानेके लिये अथवा विपरीत संयोगसे छूटनेके निमित्त जो भक्ति की जाती है वह आर्त-भक्त कहलाता है। जिज्ञासु भक्त ईश्वरके प्रति प्रारम्भिक प्रेम न होनेपर भी उनके गुण और कार्य जाननेकी आतुरता दिखलाता है और जो किसी निश्चितकी इच्छासे ईशकी प्रार्थना करता है वह अर्थार्थी-भक्त कहलाता है।

भक्त्यपूर्विका एव पुनस्त्रिधा गुणा जगुः ॥
सात्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।
सापूर्विका सर्वमिश्रत्वः तामसी राजसी तथा ॥
पुनरन्या एव त्रिविधा भक्त्यादिभिस्त्रिभिः ।
राजसी तामसी चैव सात्त्विकीति त्रिभेदतः ॥
भक्त्यपूर्वा त्रिविधा राजसी सात्त्विकी तथा ।
तमसा तामसी तत्र सान्त्येकोनत्रिंशति ॥"

—सुबोधिनी टी

श्रीमद्भागवतमें भक्तके उत्तम, मध्यम और अधम ऐसे भेद और लिखे हैं तथा उनके लक्षण इस प्रकार हैं:—

उत्तम—

"सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥"

अथवा—

"गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥"

अथवा—

"न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥"

अथवा—

"देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥"

—एकादश २ । ४५, ४८, ५०, ४९

(म)ध्यम—

"ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥"

(अ)धम—

"अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥"

—एकादश २। ४६, ४७

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अर्जुन-प्रति भगवान् उत्तम भक्तकी (व्या)ख्या करते हुए कहते हैं:—

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥"

—गीता १२ वाँ अध्याय १३–२०

—और आप भक्तोंके लक्षण इस प्रकार कहते हुए उ
प्रशंसा करते हैं —

"कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥

श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९,३०, ३१, ३२, ३३

अथवा—

"वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

—श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २४

अब जरा भक्तोंपर ब्रज-भाषा कवि-कोविदोंकी सरस-सूक्तियाँ भी देख लीजिये । यथा—

"ऊधौ, ऐसौ "भक्त" मोहि भावै ।
सब तजि आस, निरंतर मेरे जनम, करम-गुन गावै ॥
कथनी कथै निरंतर मेरी, सेवा मैं चित लावै ।
मृदुल-हास, अँखियन-जल-धारा, करतल-ताल बजावै ॥

जहँ-जहँ भगत चरन निज राखै, तहँ तीरथ चलि आवै।
तहँ की रज कौं अंग लगावत, कोटि-ब्रह्म-सुख पावै॥
मेरौ रूप हृदै में तिनके, मेरे हू उर आवै।
बलि-बलि जाउँ श्रीमुख की बानी, "सूरदास" जस गावै॥

—सूरसागर

प्रथम सुनैं भागवत, भक्त-मुख भगवत-बाँनी।
द्वितीय अराधै भक्ति, ब्यास नौ-भाँति बखाँनी॥
तृतीय करै गुरु समझि, दच्छ, सरबग्य, रसीले।
चौथें होइ बिरक्त, बसैं बनराज जसीले॥
पाँचें भूलै देह निज, छठें-भावना रास की।
सातें पावै रीति-रस, "श्रीस्वामी हरिदास" की॥

—सिद्धान्तपद-मुक्तावली

श्रीव्यासजी कहते हैं—

जो सुख होत भगत-घर आएँ।
सो सुख होत नाहिं बहु-संपति, बाँझहिं बेटा-जाएँ॥
जो सुख होत भक्त-चरनोदक, पीवत, गात-लगाएँ।
सो सुख सपनेहूँ नहिं पैयत, कोटँन तीरथ न्हाएँ॥
जो सुख भक्तँन कौ मुख देखत, उपजति दुख बिसराएँ।
सो सुख होत न काँमिहिं कबहूँ, काँमिनि उर लपटाएँ॥
जो सुख कबहुँ न पैयतु पितु-घर, सुत कौ पूत खिलाएँ।
सो सुख होत भक्त-बचननि सुनि, नैननि नीर-बहाएँ॥
जो सुख मिलत रहत साधुँन सों, छिन-छिन रंग बढ़ाएँ।
सो सुख होत न नेंकु "व्यास" कौं, लंक, सुमेरहुँ पाएँ॥

नाग—सर्प, साँप, अहि, पन्नग, उरग—आदि।

"...........'नागाः' काद्रवेयस्तदीश्वराः।"

बाँबी–बाँबीके शब्दका अर्थ, बिल, छिद्र ।
मग, नाग और बाँबी शब्दके मरम प्रयोग ।

"हम भवँर के "मग" हमारे ।"

—सूरदास

"नाग" नाम प्रभु बाहर ब्याए, फँन-फँन निरत करे ।"

—मीराबाई

मानौ निकसि पाँत-"बाँबी" तें नागिन करति किलोल ॥

—गंगाबाई

श्रीनन्ददासजीकी उक्त मरम-सूक्तिके साथ-साथ श्रीसूरकी भी इसी भावपर सुन्दर रचना देखने लायक है। जैसे—

भवने मधुप-गुपालै माई, इहि बिधि काहे देति ।
ऊधौ कौ इन मीठी-बातेंन, निरगुन कैसें लेति ॥
धरम, अरथ, काँमना सुनावत, सब सुख मुक्ति समेति ।
काको भूँख गई मन-लडुवेंन, सो देखौ चित-चेति ॥
जाकों मोरउ बिचारत, बरनत, निगम कहत हैं नेति ।
"सूर" स्याँम तजि को भुस-फटिकै, मधुप तिहारे हेति ॥

जोगी होइ सो जोग-बखाँनें । नौधा-भक्ति, दास-रति माँनें ॥
भजनानंद भली हम प्यारी । ब्रह्मानंद-सुख कौन विचारी ॥
बतियाँ रचि-पचि कहत सयाँनी । अँखियाँ हरि के रूप-लुभाँनी ॥
ब्यावरि-बिथा न बंझा जाँनें । बिन-देखें कैसें रति माँनें ॥
पुनि-पुनि,पुनि वौही सुधि आवै । कृष्ण-रूप बिनु और न भावै ॥
नव-किसोर जिहिँ नेन-निहारयौ । कोटि-जोग वा छबि पै वारयौ ॥
सीस, मुकट, कुंडल, बनमाला । क्यौं बिसरें वे नेन-बिसाला ॥
मृगमद मलय अलक घुँघरारे । उन मोहन मन हरे हमारे ॥
कुटिल, नासिका राजै । अधर-अरुन मुरली कल-बाजै ॥

दाड़िम-दसँन दाँमिनि-दुति सोहै। मृदु-मुसिकाँन सु तन-मन-मोहै॥
चंद-झलक कंठा मनि-मोती। दूरि करत उडु-गन की जोती॥
कंकन, किंकिनि, पदक बिराजै। गज-गति-चाल नूपुर-कल-बाजै॥
घन के धातु चित्र तन किएँ। श्रीबछ-चिन्ह, राजत अति हिएँ॥
पीत-बसन-छबि बरनि न जाई। नख-सिख सुंदर कुवँर-कन्हाई॥
रूप-रासि ग्वालन के संगी। कब देखें वह ललित-त्रिभंगी॥
जो तू हित की बात बतावै। मदन-गुपालहिं क्यों न मिलावै॥

अथवा—

"नाहिंन रही मनमैं ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसें, आनिएँ उर और॥
चलत, चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदे तें वह स्याँम-मूरति, छिन न इत-उत जात॥
स्याँम-गात, सरोज आँनन, ललित-गति मृदु-हास।
"सूर" ऐसे रूप कारँन, मरत लोचन प्यास॥"

दादूदयालजी कहते हैं—

"दादू" राता राम का, पीवै प्रेम अघाइ।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाइ॥
"दादू" पाती प्रेम की, बिरला बाँचै कोइ।
बेद-पुराँन-पुस्तक पढ़ें, प्रेम बिना का होइ॥
प्रीति जो है मो पीव की, पैठी पिंजर माँहिं।
रोंम-रोंम पिव-पिव करै, "दादू" दूसर नाँहिं॥"

सहजोबाई कहती हैं—

"जोगी पावै जोग सूं, ग्याँनी लहै बिचार।
"सहजो" पावै भक्ति सूं, जोग-प्रेम आधार॥"

उद्धव-वचन

१९

हरि—भगवान्का नाम विशेष ।

"सहेतुकं संसारं हरतीति हरिः ।"

अर्थात्—अविद्यारूप कारणके सहित संसारको हरें, इसलिये हरि हैं।

भगवान्के हरि नामपर कविवर "रहीम"की एक सरस-सूक्ति याद आ गयी है। जैसे—

"हरि" "रहीम" ऐसी करी, ज्यों कँमान-सर-पूरि ।
खेंचि आपनी ओर कौं, डारि देंति पुनि दूरि ॥"

रसनिधिजी कहते हैं—

"भव-बाधा हरि लेति हैं, कहति नाम-अभिराम ।
"रसनिधि" यातें अरथ सह, नाम परयौ "हरि" स्याम॥"

वेद—शुद्ध वेद, अर्थात् भारतीय आर्योंका सर्वप्रधान और सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ जिसकी संख्या—ऋग्, यजु, साम और अथर्व-आदि चार हैं।

"श्रुतिः स्त्री "वेद"—आम्नायस्त्रयी धर्मास्तु तद्विधिः ।
—अमरकोश १ । ६ । ३

कहते हैं वेद ब्रह्माके [illegible] आरम्भमें तो वेद तीन ही थे—ऋक्, यजु [illegible]

[illegible] ।"

अन्त अपर्व बादमें बना। इन चारों वेदोंको प्राचीन साहित्य
शास्त्र मनुने भी "वेदत्रयी" नामसे उल्लेख किया है। ऋग्वेद
है, यजुर्वेद गद्यमें तथा 'साम' गानेयोग्य गीतोंमें—पद्योंमें।
अथर्ववेद जो कि पीछेसे बना इसमें शान्ति तथा पौष्टिक-अभिच
प्रायश्चित्त-विधियाँ, तन्त्र-मन्त्र आदि विषय हैं। वेद—संहिता, ब्राह्
और आरण्यक या उपनिषद्रूप तीन भागोंमें विभक्त है। संहित
अर्थात् संग्रह। वेदके संहिता-विभागमें स्तोत्र, प्रार्थना, मन्त्र-प्रयोग,
आशीर्वादात्मक सूक्तियाँ यज्ञविधिसे सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रादि और
अरिष्ट-निवारणात्मक प्रार्थनाएँ सम्मिलित हैं। वेदोंका यही विभाग
"मन्त्र-भाग" कहलाता है। वेदका ब्राह्मण-विभाग गद्य-ग्रन्थात्म
जिसमें अनेक देवताओंकी कथाएँ, यज्ञ-सम्बन्धी विचार और भि
भिन्न ऋतुओंमें होनेवाले धार्मिक कृत्योंके व्यावहारिक तथा आध्यात्
महत्त्वका निरूपण है। वनोंमें रहनेवाले यति और संन्यासी आ
परमेश्वर, जगत् और मनुष्य इन तीनोंके सम्बन्धमें जो-जो विचार
विनिमय किया करते थे, वह सब उपनिषदों और आरण्यकोंमें संगृहीत
है। इन्हींमें भारतका प्राचीनतम तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है। यह विभाग
वेदोंका अन्तिम भाग है, इसलिये ही यह वेदान्त कहलाता है। वेदों-
का प्रचार बहुत कालसे है, अतः काल-भेद, देश-भेद और
भेदोंके कारण वेद-मन्त्रोंके उच्चारणमें अनेक पाठ-भेद हो गये
साथ ही पाठोंमें कहीं-कहीं कुछ न्यूनता और अधिकता भी हो।
है। इन पाठ-भेदोंके कारण "संहिताओं" को जो रूप प्राप्त हु
वह 'शाखा' कहलाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक वेदकी कई शाखा

हो गयी हैं। चारों वेदोंसे चार विद्याएँ निकली हुई कहते हैं, अतएव जिन ग्रन्थोंमें उक्त विद्याओंका वर्णन हो वे उपवेद कहलाते हैं। प्रत्येक वेदका एक-एक स्वतन्त्र उपवेद है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द ये छः वेदोंके अङ्ग कहे जाते हैं। जैसे—

"शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गणः।
छंदो विचितिरित्येषः षडंगो वेद उच्यते॥"

—कल्पसूत्र

वेदोंका स्थान संसारके प्राचीन-से-प्राचीन इतिहासोंमें बहुत उच्च है। इन वेदोंमें हम भारतीयोंकी आरम्भिक आध्यात्मिकता, सामाजिकता और नैतिक-सम्पन्नताका बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन है। वेदोंको भारतीय जनता अपौरुषेय, अर्थात् ईश्वर-कृत मानते हैं और जैसा कि अभी लिखा जा चुका है—ब्रह्माने वेद चारों मुखसे कहे। अतः जिन-जिन ऋषियोंने जो-जो मन्त्र सुनकर संगृहीत किये वे उनके ऋषि (द्रष्टा) कहलाये जाते हैं। प्रायः सभी साम्प्रदायिक आचार्य-वर्गोंने वेदोंको परम प्रामाण्य माना है। स्मृति और पुराण आदिमें वेद, देवतादिके मार्गदर्शक नित्य अपौरुषेय और अप्रमेय कहा है। ब्राह्मणों और उपनिषदादिमें कहा गया है कि वेद सृष्टिसे भी पहिले उत्पन्न हुए और उनका निर्माण प्रजापतिने किया। पर वेदोंका वर्तमानरूपसे संग्रह-विभाग और संकलन महर्षि व्यासजीने ही किया है, इसलिये आप 'वेद-व्यास' कहलाते हैं। विष्णु और वायु-पुराणमें कहा है—स्वयं विष्णु भगवान्ने ही वेद-व्यासजीका रूप धारणकर

वेदके उक्त चार विभाग किये और क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनी और सुमंत आदि चार ऋषियोंको दिये। जैसे—

"वेदद्रुमस्य मैत्रेय शाखाभेदास्सहस्रशः।
न शक्तो विस्तराद्वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तम्॥"
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः॥
वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च।
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान्करोति सः॥
ययासौ कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः।
वेदव्यासाभिधाना तु सा च मूर्तिर्मधुद्विपः॥"

—विष्णुपुराण ३ अंश ३। ४, ५, ६, ७

वेदांतवादी वेदोंको ब्रह्मसे उत्पन्न मानते हैं। जैमिनि और कपिल वेदोंको स्वतः सिद्ध कहते हैं। वेदोंके रचना-काल-विषयमें आधुनिक विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानोंका कथन है कि वेदोंकी रचना ईशासे प्रायः हजार या डेढ़ हजार वर्ष पहिले हुई थी। उस समय ही आर्यजाति पंजाबमें आकर बसी थी, परंतु लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकने ज्योतिष-शास्त्रके साथ अन्य कितने ही आधारोंसे यह प्रमाणित किया है कि वेद, ईशासे साढ़े चार हजार वर्ष पहिले स्थिर थे। बुह्लर आदि विद्वानोंका अभिमत है कि आर्यसभ्यता ईशासे प्रायः चार हजार वर्षसे भी पहिले थी और वैदिक साहित्यकी रचना ईशासे लगभग तीन हजार वर्ष पहिले हुई। अधिकांश विद्वान् यही अभिमत स्वीकार करते हैं, इत्यादि-आदि।

नेति—जिसकी इति न हो, आदि हो, पर अंत न हो, अंत-रहित, अनंत, बेहद ।

नेति—शब्द उपनिषदोंमें ब्रह्म या ईश्वरकी अनन्तता सूचित करनेके लिये आता है ।

आतमा—शुद्ध आत्मा, अर्थात् ब्रह्म, जीव, चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, देह, स्वभाव, यत्न और धृति आदि ।

"आत्मा" यत्नोधृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्म च ।"
—अमरकोश ३ । ४ । ११२

अथवा—

"आत्मा" कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि ।
चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च ॥"
—धरणि

अथवा—

"प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद्व्यावृत्तोऽनुभवात्मकः ।
प्रथतेयः स "आत्मेति" प्राहुरात्मविदो बुधः ॥"

आतमा—शब्दका प्रयोग प्रायः ब्रह्म और जीवके अर्थमें प्रयुक्त होता है, जैसा कि यहाँ अर्थ है । इसका यौगिक अर्थ 'व्याप्त' है । जिस प्रकार ब्रह्म संसारके प्रत्येक अणु और अवकाशमें व्याप्त है, उसी प्रकार जीव भी प्रत्येक प्राणीके अंग-अंगमें 'व्याप्त' है । इसलिये 'आत्मा' शब्दका व्यवहार प्राचीन शास्त्रकारोंने दोनोंके लिये किया है । साधारणतः जीव, ब्रह्म और प्रकृति इन तीनोंके लिये, अथवा अनिर्वचनीय पदार्थोंके लिये इस शब्दका व्यवहार करते आये हैं, परंतु

मुख्यतया इसका प्रयोग जीवके संबंधमें विशेष और ब्रह्म तथा प्रकृतिके अर्थमें गौणरूपसे किया गया है। संसारमें प्रायः दो भेद देखनेमें आते हैं—एक आत्मवादी और दूसरे अनात्मवादी। प्रकृतिसे पृथक् आत्माको पदार्थ-विशेष माननेवाले आत्मवादी और प्रकृति-विकार-विशेषको ही आत्मा माननेवाले अनात्मवादी कहलाते हैं। उनके मतमें आत्मा कोई पदार्थ नहीं, अपितु प्रकृतिका विकारमात्र है। अनात्मवादी यूरोपमें विशेष हैं। उनका कहना है—आत्मा, प्रकृतिके भिन्न-भिन्न वैकारिक अंशोंके संयोगसे समुत्पन्न एक शक्ति विशेष है, जो कि प्राणियोंमें गर्भावस्थासे ही उत्पन्न होकर मरणपर्यन्त रहती है और बादको जिन तत्त्वोंके विश्लेषणसे यह उत्पन्न हुई थी उन्हींमें मिलकर नष्ट हो जाती हैं। बहुत दिन हुए भारतवर्षमें यही बात प्रसिद्ध विद्वान् 'बृहस्पति' ने कही थी जो कि 'चार्वाक' नामसे प्रख्यात था। चार्वाकका कथन है—

"तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्।"

अर्थात्—देहके अतिरिक्त अन्यत्र आत्माके होनेका कोई प्रमाण नहीं है, अतः चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। इस मुख्य-मतके बाद कई और भेद उत्पन्न हो गये और क्रमशः शरीरकी स्थिति तथा ज्ञानकी प्राप्तिमें कारणभूत इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकारको आत्मा मानने लगे। कोई इसे विज्ञानमात्र, अर्थात् क्षणिक मानने लगा, तो कोई कुछ और ही। वैशेषिक-दर्शन आत्माको एक द्रव्य मानकर लिखता है कि प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन, गति-

इन्द्रिय, अंतर्विकार जैसे—भूख-प्यास, ज्वर-पीड़ादि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्नादि आत्माके लिंग हैं, अर्थात् जहाँ प्राणादि लिंग वा चिह्न दीख पड़ें, वहाँ आत्मा रहती है; लेकिन न्यायकार गौतममुनिने—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञानादि ही को आत्माका चिह्न माना है। जैसे—

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।"
—न्यायसूत्र १। १०

सांख्य-शास्त्रानुसार आत्मा—अकर्ता, साक्षीभूत, असंग और प्रकृतिसे परे (भिन्न) अतींद्रिय पदार्थ माना जाता है। योगशास्त्रानुसार आत्मा—वह अतींद्रिय-पदार्थ है जिसमें क्लेश, कर्मविपाक और आशय है। सांख्य और योग ये दोनों ही आत्माके स्थानपर पुरुष शब्दका प्रयोग करते हैं। मीमांसकोंके अनुसार आत्मा कर्मोंका कर्ता और फलोंका भोक्ता स्वतंत्र अनींद्रिय-पदार्थ है। पर मीमांसकोंमें प्रभाकर, कुमारिल-भट्ट आत्माको अज्ञानोपहत-चैतन्य मानते हैं। वेदान्तानुसार आत्मा—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव ब्रह्मका अंशविशेष है। बौद्ध-मतसे आत्मा, अनिर्वचनीय पदार्थ जिसका आदि और अंत-अवस्था ही माना जाता है। पर उत्तरीय बौद्ध आत्माको एक शून्य पदार्थ मानते हैं। जैनी आत्माको कर्मोंका कर्ता, फलोंका भोक्ता और अपने कर्मोंसे मोक्ष और बंधनको प्राप्त होनेवाला एक अरूपी-पदार्थ मानते हैं।

उपनिषद्—वेदकी शाखा और ब्राह्मणोंका वह अंतिम भाग जिसमें ब्रह्मविद्या, अर्थात् आत्मा और परमात्माका सम्यक् निरूपण

हों। वेदांत-शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान, वेदका शिरोभाग, वेद
विद्या आदि।

"धर्मे रहस्युपनिषद्"..................

(अमरकोश ३

"अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचर
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव संभवान्

अथवा—

"उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचिसमाप्यते
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रांतेः स्वात्मनीक्षणात्॥
"त्रिविधस्य सदर्थस्य निःशब्दोऽपि विशेषणम्।
उपनीयतमात्मानं ब्रह्मायास्तिद्वयं यतः॥
"निहन्त्यविद्यां तज्जंचयतस्मादुपनिषद् भवेत्।
निहत्यानर्थं मूलं स्वा विद्यां प्रत्यकयापरम्॥"
"गमयत्यस्तसम्भेद मतो वोपनिषद् भवेत्।
प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥"
"यतोवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषद् भवेत्।
यथोक्तविद्या हेतुत्वांग्रंथोऽपितदभेदतः॥"

—शब्दार्थचिंता

वैसे तो—उपनिषदोंकी संख्या अठारह ही मानी जाती
पर कोई-कोई अठारहके अतिरिक्त चौंतीस, बावन, एक सौ आठ
एक हजारसे भी अधिक मानते हैं।

"तत्राशीतिसहितशताधिकसहस्रसंख्याका उपनिषदश्रुत
वेदानाम्।"

पर प्रधानतः दस ही है और उनके नाम ये हैं—ईश वा वाजसनेय, केन वा तवल्कार, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य और बृहदारण्यक। इनसे अतिरिक्त उपनिषद् कौषीतकी, मैत्रायणी और श्वेताश्वतर—उपनिषदोंको आर्षप्रणीत मानते हैं तथा एक सौ छः उपनिषद् छपे हुए भी मिलते हैं।

पुरान—शुद्ध पुराण, अर्थात् प्राचीन आख्यान, पुरानी कथा। भारतीय आर्य जातिके धर्म-सम्बन्धी आख्यान-ग्रंथ, जिनमें सृष्टि, लय, प्राचीन ऋषि-मुनियों और राजाओंके इतिवृत्त होते हैं। अथवा सृष्टि, मनुष्य-देव-दानव, राजा और महात्माओंके वृत्तांत जो परंपरागत चले आते हों। कहते हैं जिसमें यह पाँच लक्षण हों वह पुराण, जैसे—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥"

पुराण—अठारह हैं, जैसे—विष्णु[३], पद्म[२], ब्रह्म[१], शिव[४], भागवत[५], नारद[६], मार्कण्डेय[७], अग्नि[८], ब्रह्मवैवर्त्त[१०], लिंग[११], वाराह[१२], स्कन्द[१३], वामन[१४], कूर्म[१५], मत्स्य[१६], गरुड[१७], ब्रह्माण्ड[१८] और भविष्य[९], जैसे:—

"ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा।
तथान्यं नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम्॥
आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यन्नवमं स्मृतम्।
दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं लैंगमेकादशं स्मृतम्॥
वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम्।
चातुर्दशं वामनं च कौर्मं पंचदशं तथा॥
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम्।
महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने॥"

—विष्णुपुराण ३। ६। २१—२४

पर कहीं-कहीं इन नामोंमें मतभेद भी है। कोई श्रीमद्भागवत-को महापुराण मानकर उसके बाद वायु-पुराणको मानता है, तो कोई लिंग-पुराणके स्थानपर नृसिंह-पुराणकी सृष्टि करता है।

हरि, बेद, नेति, आतमा, उपनिषद् और पुरौन-आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"हरि" तेरी माया को न बिगोयौ।"
—सूरदास

"बेद" रटत, ब्रह्मा रटत, नारद, सुक, ब्यास रटत······।"
—तानसेन

"ललित-बचन समुझति भईं प्यारी, "नेति-नेति" ए बैंन"
—हरिराय

······"आतमा" असंग लखि देह को बिहार है।"
—सुन्दरदास

मोहि भुरावत बेद "उपनिषद", मरमि करम के भेद।
—ध्रुवदास

ब्रह्म में ढूंढ्यौ "पुराननि" बेदनि, भेद सुन्यौं चित-चौगुने चायन।
—रसखान

गोपी-बचन

२०

बीज—हठवाले वृक्षोंका गर्भांड जिससे वृक्ष अंकुरित होकर [उत्पन्न] होता है। यह गर्भांड एक छिलकेके भीतर बंद रहता है, [जि]समें अव्यक्तरूपसे भावी वृक्षका भ्रूण रहता है। जब यह [बीज]को उपयुक्त जल, वायु और स्थान मिलता है तब यह भ्रूण [जो] अंकुर अव्यक्त रहता है प्रबुद्ध होकर बढ़ता है और अंकुररूपमें

परिणत हो जाता है। यही अंकुर समयानुसार बढ़कर वैसा ही पेड़ हो जाता जैसे पेड़के गर्भाँडसे वह स्वयं निकला था। आदि-आदि

तरु—वृक्ष, द्रुम, पेड़, गाछ आदि

"वृक्षोमहीरुहशाखी विटपीपादपः—"तरुः"

—अमरकोश २।४।५

माया—ईश्वरकी वह शक्ति जिसके द्वारा सब कार्य होता है। सृष्टिकी उत्पत्तिका मुख्य कारण। अविद्या, अज्ञानता, भ्रम आदि।

वेदान्तवादियोंका कथन है कि माया ऐसी वस्तु है जो न सद् है, न असद् है, अपितु अनिर्वचनीय है और उसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण हैं तथा ज्ञानकी विरोधिनी है और केवल भान-रूप है। आगे चलकर कहते हैं कि जबतक मायाजनित उक्त तीनों गुण एकसे, अर्थात् साम्यावस्थामें रहते हैं तबतक जगत्‌की उत्पत्ति नहीं होती। जब इसमें तमोगुणकी अधिकता होती है तब इसमें एक प्रकार क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके परिणामस्वरूप जगत्‌की उत्पत्ति होती है।

मायामें दो शक्तियाँ हैं, एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति। आवरण-शक्तिसे वस्तुका यथार्थ रूप ढक जाता है और विक्षेप-शक्तिसे मिथ्या कल्पना हो जाती है। बादल सूर्यके सामने आ जानेपर सूर्यको दृष्टिसे छिपा लेता है, इसी तरह आवरण-शक्तिद्वारा आछिन्न होनेपर—आच्छादित होनेपर आत्मा भी दिखलायी नहीं पड़ती। अँधेरेमें सूखे वृक्षको देखनेपर भूतकी कल्पना हो जाती

है, उसी तरह विक्षेप-शक्ति भी आत्मापर मिथ्या-जगत्की कल्पना क
देती है । कोई मनुष्य अँधेरे मकानमें जाय और वहाँ रस्सीके टुकड़े
को पड़ा देख सर्प मानकर डर जाय तथा फिर बाहर आकर दिया ले
जानेपर उसके प्रकाशसे उसे ज्ञात हो कि जिस रस्सीके टुकड़ेको मैं
सर्प समझकर डर रहा था वह वास्तवमें रस्सीका ही टुकड़ा है, सर्प
नहीं । यहाँ रस्सीका असली रूप न दिखलायी पड़ना एक बात है
और रस्सीपर सर्पकी कल्पना दूसरी बात तथा प्रकाशसे उसका
असली रूप ज्ञात होना तीसरी बात है। यहाँ पहिलीका कारण आवरण-
शक्ति है, दूसरीका विक्षेप-शक्ति और तीसरीका कारण वह वेदान्तिक
शास्त्र-ज्ञान है जो कि माया, अर्थात् अविद्याको मोहको, भ्रमका
अज्ञानका कारण समझता है । माया, अपनी इन आवरण और वि
शक्तियोंद्वारा आत्माको छिपाकर उसपर मिथ्या-जगत्की कल्पना
देती है, अतः जगत् वास्तवमें सत्य नहीं, अपितु मायाका विका
पर रखता है व्यावहारिक सत्ता ।

मायाजनित जगत्की उत्पत्तिके विषयमें वेदान्तियोंका क
है—मायाका पहिला स्वरूप कारण शरीर है, अर्थात् जहाँतक म
है, वह सब ब्रह्मके सत्त्व-गुण प्रधानात्मक अल्प अंशसे मिली हुई
और शरीर संसारभरकी अखिल वस्तुओंका भंडार, अतएव इस स
पुंज-शरीरके साथ जो ब्रह्मका वह अल्प भाग मिला है, वह ईश
अनुरूप ही है—ईश्वर ही है । यह सत्त्व-गुणवेष्टित ईश्वर सर्व
सर्व-शक्तिमान् और सबका नियन्ता कहलाता है । शरीर भी सत्त्व
गुणप्रधान है, इसलिये इसे आनंदसे परिपूर्ण मानते हुए आनंदमय

कोश भी कहते हैं। शरीरकी अवस्था सुषुप्ति है, यह सुषुप्ति-अवस्था ही स्थूल और सूक्ष्म-शरीरोंका लय-स्थान है, कारण शरीर इनके परे है। जगत्‌भरका कारण, शरीर होनेसे प्रत्येकका अर्थपर मनुष्यादि-का कारण शरीर होना ही चाहिये। अतः इस कारण शरीरका चैतन्यत्वके साथ जो सम्बन्ध है, वह चैतन्यत्व ईश्वरका ही एक भाग है जो कि 'प्राज्ञ' कहलाता है और मायाकी मलिन-उपाधिद्वारा अल्पज्ञ और अनीश्वर भी। अस्तु, इस शरीरके ही कारण अपनपेकी कमनीय कल्पना होती है, जैसे—सम्पूर्ण जगत्‌का कारण शरीर आनंदमय कोश कहलाता है उसी तरह ब्रह्मका वह अल्पांश चैतन्यरूप भी आनंदमय कोश कहलाता है। इसकी भी अवस्था सुषुप्ति है और जीवके सूक्ष्म और स्थूल शरीरका लय-स्थान भी यही है। अतः समस्त जगत्‌का कारण शरीर और किसी व्यक्ति-विशेषका कारण शरीर उक्त एकत्वके अनुसार पृथक्-पृथक् नहीं हैं, अपितु एक ही है। पृथक्-पृथक् भान होना तो दृष्टि-विकारका फल है। जैसे वन और वृक्ष, जलाशय और जल, पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं, बल्कि एक ही हैं; इसी प्रकार संसारका कारण-शरीर और किसी व्यक्ति-विशेषका कारण-शरीर भी पृथक्-पृथक् नहीं हैं। जब वृक्षोंको पृथक्-पृथक् देखा जाय तब तो वे सब पृथक्-पृथक् वृक्ष हैं और जब उन्हें समूहरूपसे देखा जाय तो वे वन हैं। यही समष्टि और व्यष्टित्व कहलाता है। किसी समूहरूपको समुदायकपनेसे कहनेपर वह समष्टि और उसका पृथक्-पृथक् वर्णन करनेसे—विलग-विलग अंशोंका निरूपण करनेसे व्यष्टिरूप कहलाता है। सम्पूर्ण माया-पुंजका ब्रह्म-अंश चैतन्यरूपसे मिला हुआ देखा

जाय तो समष्टि कहलावेगा। और जब प्रत्येक शरीरके उक्त चैतन्य से पृथक्-पृथक् रूपमें देखा जाय तब व्यष्टि कहलायेगा। ईश्वर और *प्राज्ञ एक ही हैं। ईश्वर समष्टिरूप है और प्राज्ञ व्यष्टिरूप।* वन और वृक्षोंमें सम्पूर्ण आकाश लय नहीं होता, उससे पृथक् कुछ-न-*कुछ विशेष बचा ही रहता है। इसी तरह सब माया-पुंजमें वह ब्रह्म* सम्पूर्ण रूपसे लय नहीं होता, बहुत कुछ बाहर रह जाता है, उसका कुछ ही अंश मायासे मिला हुआ रहता है। अतः वह अविशेष-अंश तुरीय या तुर्य कहलाता है। तुर्य या तुरीय अज्ञानतासे प्राप्त चेतनताका आधार। मायाजनित जगत्की उत्पत्तिका कहसे यही कारण है। मकड़ीके जालेकी उत्पत्ति मकड़ीसे है। मकड़ी जालेके निमित्त और उपादान रूप दोनों कारणोंसे गुंफित है—जकड़ी हुई है। जालेके तंतुओंको बनाते समय वह निमित्त-कारण है और उसके शरीरसे तंतुओंका पैदा होना उपादान-कारण है। ऐसे ही वह अज्ञान-युक्त चैतन्य अपनी प्रधानतासे आवरण और विक्षेप-शक्तियोंद्वारा जगत्का निमित्त-कारण हैं तथा अपनी उपाधियोंसे उपादान-कारण, आदि-आदि।

दरपन—शुद्ध, दर्पण, अर्थात् आइना, मुकुर, मुख देखनेका शीशाविशेष, जैसेः—

"दर्पणे"मुकुरादर्शौ······················।"

—*अमरकोश* २।६।४१

अमल—मलरहित, अर्थात् स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष।

वारि—शुद्ध वारि, अर्थात् जल, पानी, सलिल, आप

पूतना तो तब ही मुई, संग गए है तिन कौं।
हम तो मरतिं "सूर" गुनि पद-पद, लोग बटाऊ हित कौ॥
—सूरसा

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकरने भी श्रीउद्धवके बार-बार ब्रह्म-ब्र
चिल्लानेपर गोपियोंद्वारा कुछ ऐसी ही मीठी फटकार दिलवायी थी, यथा—

"कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप,
धारे प्रन फेरन की मति ब्रजबारी की।
कहै "रतनाकर" पै प्रीति-रीति जानति ना,
ठानति अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यौ हम कान्ह-ब्रह्म एक ही कह्यौ जो तुम—
तौहू हमें भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की॥"

अथवा—

"जग सपनौं सौ सब परति दिखाई तुम्हें,
तातैं तुम ऊधौ! हमें सोवत लखात हौ।
कहै "रतनाकर" सुनै को बात सोवत की,
जोई म्होंह आवत सो बिबस बयात हौ॥
सोवत में जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्योंही तुम आपुहीं सुग्यानी समुझात हौ।
जोग-जोग कबहूँ न जानें कहा जोहि जकौ,
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ॥"

उद्धव-वचन

२१

सौंनों—मिलाओ। भेद—रहस्य, छिपा हुआ हाल, गुप्त-तत्त्व आदि। बदत—कहते हैं।

सौंनों, भेद और बदतके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"प्रीति-रीति सों मोहन "सौंनों", बिगरी सब बन जाई ।"
—साँवरी सखी

"सुर-ताक, सुति-भाँम, मूर्छना-"भेद" सब—
बानी सों कहि करौ गुनीजन गाँन ।"
—तानसेन

"सूरदास" भगवंत "बदत" य, ह भजेहूँ जमपुर जैहैं ।"
—सूरसागर

गोपी-वचन

२२

स्वाँस—मुखसे निकलनेवाली हवा । *निसरे*—निकले, बाहर आये । *क्रिया*—किसी प्रकार व्यापार, व्यवहार, कृत्य, उपाय, विधि, प्रयत्न, चेष्टा, अनुष्ठान, प्रायश्चित्तादि कर्म ।

बिसेषि—शुद्ध विशेष, अर्थात् मुख्य, प्रधान, अधिक ।

विशेष शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे—भेद, अन्तर, फरक, तरह, ढंग आदि । कणादने—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, "विशेष", समवाय और अभावरूप सात पदार्थ मानकर "विशेष"को अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि विशेष वे गुण हैं जिनके कारण कोई एक पदार्थ शेष दूसरे पदार्थोंसे भिन्न समझा जाता है । दो वस्तुओंमें रूप, रस, गन्धका जो अन्तर होता है वह इसी विशेष-गुणके कारण होता है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये वैशेषिक-गुण वा विशेष गुण कहलाते हैं । कणादके दर्शनमें

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥"

—अयोध्याकाण्ड

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

"ऊधौ, चरचा करी न जाइ ।
तुम न जानत प्रेम-पथ, हम कहत जिय-सकुचाइ ॥
कथा अकथ सनेह की बिन, उर न आवत और ।
बेद-स्मृति-उपनिषद कों जिय रही नाँहिंन ठौर ॥
मौन ही में कहन ताकी, सुनत स्रोता-नैन ।
सोच "नागर" तुम न जाँनत, कहि न आवत बैन ॥"

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

"पियारो, पैए केवल प्रेम में ।
नाँहिं ग्याँन में, नाँहिं ध्याँन में, नाँहिं करँम-कुल-नेम में ॥
नहिं भारत में, नहिं रमाइन, नहिं मनु में, नहिं बेद में ।
नहिं झगरे में, नाँहिं जुगति में, नाँहिं मतँन के भेद में ॥
नहिं मंदिरमें, नहिं पूजा में, नहिं घंटा की घोर में ।
"हरीचंद" वौ बँध्यौ जु डोलत, एकु प्रीति की डोर में ॥"

—जैनकुतूहल

श्रीरसनिधिजी कहते हैं—

"अलख-जाल इन दृगन सों, बिदत न देखी जाइ ।
प्रेम-कांति वा की प्रघट, सब ही-ठौर दिखाइ ॥"

—रसिक-हजारा

घूमनेमें सत्ताईस दिन, सात घंटे तैंतालीस मिनट और साढ़े ग्यारह सेकेंड लगाते हैं, लेकिन व्यवहारमें जो महीना आता है वह उन्तीस दिन बारह घंटे चौवालीस मिनट और सत्ताईस सेकेंडका होता है। चन्द्रमाके परिक्रमणकी गतिमें सूर्यकी क्रियासे विशेष अन्तर पड़ता रहता है। जब वह अपने अक्षपर महीनेमें एक बारके हिसाबसे घूमता है तब प्रायः उसका एक ही पार्श्व पृथ्वीकी तरफ रहता है। इस विलक्षणताको देखकर ही कुछ लोगोंको यह भ्रम हुआ था कि यह अक्षपर नहीं घूमता। चन्द्र-मण्डलमें बहुत धब्बे दिखलायी देते हैं, जिसे पुराणानुसार कलंक, पृथ्वीकी छाया, काला दाग, हिरन आदि कहते हैं। यूरोपीय विद्वानोंका इन धब्बोंके विषयमें कथन है—ये धब्बे नहीं, अपितु पर्वत, घाटी, गर्त और ज्वालामुखी पर्वत आदि हैं। चन्द्रमामें वायु-मण्डल नहीं जान पड़ता और न बादल वा जलहीके कोई चिह्न दिखलायी पड़ते हैं। उसमें गरमी भी कम दिखलायी देती है। प्राचीन भारतीय ज्योतिषियोंके अभिमतसे चन्द्र एक ग्रह है। भास्कराचार्य कहते हैं—वह जलमय है और उसमें निजका तेज नहीं है। उसका जितना भाग सूर्यके सामने पड़ता है, बस उतना ही दिखलायी पड़ता है और वही चमकता है। जिस दिन चन्द्रका निचला भाग जो कि हमलोगोंकी, अर्थात् पृथ्वीकी ओर रहता है, उसपर सूर्यका प्रकाश न पड़नेसे अँधेरा होनेके कारण अमावास्याका दिन माना जाता है। ऐसा तभी होता है जब कि सूर्य और चन्द्र एक ही राशिपर यानी सम-सूत्रमें होते हैं। यह सूर्यकी सीधसे—सम-सूत्रपातसे बहुत शीघ्र पूर्वकी ओर हट जाता है जिससे उसकी

एक-एक कला क्रमशः प्रकाशित होने लगती है। वह जितना ही इस सीधसे हटता जायगा उतना ही उसका अधिक भाग प्रकाशित होता जायगा। द्वितीयाके दिन चन्द्रके पश्चिमांशपर सूर्यका जितना प्रकाश पड़ता है उसका उतना ही भाग प्रकाशित दिखलायी पड़ता है। सूर्य-सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा जब सूर्यकी सीधसे छठी राशिपर चला जाता है तब उसका समग्र आधा भाग प्रकाशित हो जाता है और हमें पूर्णिमाका पूरा चाँद दिखलायी पड़ने लगता है। पूर्णिमाके अनंतर ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों-त्यों ही उसका अंतर सूर्यकी सीधसे कम होता जाता है, अर्थात् वह सूर्यकी सीधके ओर आता जाता है और उसका सूर्यकी सीधमें आनेके कारण प्रकाशित भाग क्रमशः अन्धकारमें पड़ता जाता है। अनुपातके मतानु उक्त प्रकाशित और अप्रकाशित भागोंके इस ह्रास और वृद्धि हिसाब जाना जा सकता है। यही मत आर्य-भट्ट, श्रीपति, ज्ञानर लल्ल और ब्रह्मगुप्त आदि प्राचीन ज्योतिषियोंका भी है। चन्द्र धब्बोंके प्रति इन महानुभावोंने कुछ नहीं कहा, यहाँतक कि सिद्धान्त, सिद्धान्त-शिरोमणि और बृहत्संहिता आदि भी इन धब्बे प्रति चुप हैं।

पुराणानुसार चन्द्र समुद्र-मन्थन-द्वारा निकले हुए प्रसिद्ध चौ रत्नोंमेंसे एक रत्न हैं और उसकी गिनती देवताओंमें की जाती है चन्द्रग्रहणके प्रति पुराणोंका कथन है—समुद्र-मन्थनके अन्तमें जब अमृत निकला तब राक्षस-वर्ग उसे छिन ले गया, तदुपरान्त विष्णु भगवान्‌ने मोहिनी स्वरूप-द्वारा राक्षसोंसे उसे पुनः लेकर समझौते

साथ पहिले देवताओंको अमृत पिलाने लगे। अस्तु, चंद्रमाके पास बैठकर और देवताओं-जैसा वेश बनाकर एक राक्षसने चन्द्रमाके साथ अमृत पी लिया। यह वृत्तान्त चन्द्रमाको किसी प्रकार मालूम हो गया कि यह देवता नहीं अपितु राक्षस है—असुर है और उसने अमृत पिलाते हुए मोहिनी-स्वरूपसे यह भेद प्रकट कर दिया। मोहिनी-स्वरूप विष्णु भगवान्ने सुदर्शन-चक्र (एक हथियार-विशेष) से उस असुरके दो खण्ड कर दिये जो कि राहु और केतुके रूपमें परिणत हो गये। इस वैर-विरोधके कारण ही राहु ग्रहणके समय चन्द्रमाको ग्रसा करता है और उदर—पेट न होनेके कारण उसे हजम नहीं कर पाता और वह (चन्द्र) बाहर निकल आता है। चन्द्र-धब्बोंके प्रति जैसा कि पूर्वमें कहा गया है विभिन्न मत हैं। कोई इसे दक्षप्रजापति-द्वारा पाये गये यक्ष्मा-रूप शापको शांति-निमित्त गोदमें लिया हुआ हिरन बताते हैं, तो कोई इसे गुरुपत्नीगमनके कारण गुरु बृहस्पति-द्वारा दिये गये शापका फलरूप काला दाग बतलाते हैं और कोई इसे अहिल्याके सतीत्व-भंग करनेवाले देवराज इन्द्रको सतीत्व-भंगमें सहायता देनेपर क्रोधावेशमें गौतम ऋषिद्वारा मारे गये कमंडल और मृग-चर्मका दाग बतलाते हैं। इससे इसके नामोंमें भी वृद्धि हो गयी, जैसे—मृगलांछन, रोहिणी-पति, हरिणाङ्क, दोषाकर आदि-आदि।

चन्द्र, कवियोंकी भी अपूर्व उड़ानोंका, चित्त चुरानेवाला चौगान रहा है। संस्कृतसे लेकर तमाम भाषाओंके कवि-कोविदोंने चन्द्र-पर, उसके धब्बोंपर, इन निरंकुशों (कवि) ने बड़े-बड़े कुलाबू

"अंकेऽपि शशांकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे
सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भूमेश्च बिंबं परे।
इंदौ यद्दलितेंद्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तन्मन्ये रविभीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमालक्ष्यते ॥"*

पश्य चंद्रमुखी चंद्रमंडलं व्योममार्गसरसीसरोरुहम्।
यामिनीयुवतिकर्णकुण्डलं मारमार्गणनिघर्षणोत्पलम् ॥"

"स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमान्—
किमु विधुं ग्रसते स विधुंतुदः।
नियतितं वदने कथमन्यथा—
वलिकरंभनिभं निजमुज्झति ॥"

"कुरु करे गुरुमेकमयोघनं
बहिरितो मुकरं च कुरुष्व मे।
विशति तत्रयदैव विधुस्तदा—
सखि! सुखादहितं जहितं द्रुतम् ॥"

---

* संस्कृतकी इस उक्तिपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी ये सुमधुर सूक्तियाँ बरबस याद आ जाती हैं, जैसे—

"कह प्रभु ससि महँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई ॥
कह सुग्रीव सुनहुँ रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई ॥
मारयो राहु ससिहिं कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई ॥
कोउ कह जब बिधि रति-मुख कीन्हा। सार-भाग ससि कर हरि लीन्हा ॥
छिद्र सो प्रगट इंदु-उर माँहीं। तिहि मग देखिय नभ-परछाँहीं ॥
प्रभु कह गरल-बंधु ससिकेरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा ॥
बिष-संजुत कर-निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर-नारी ॥"

"कह हनुमंत सुनहुँ प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय-दास।
तव मूरति बिधु-उर बसी, सोई स्यामता भास ॥"

कहत "किसोर" निसि-नारि के हिए की मनि,
दरसावै कुँवरि-किसोरी दिन-दूल है ॥
दाद-हरैन वर-परव कौ इंदु स्वच्छ,
सरद सुइंदिरा कौ मुख सुख मूल है।
तारकौंन-कलित मँझार चारु दुति फूल्यौ,
अंतरिच्छ कलप-तरोवर कौ फूल है ॥*
"गगन-गयंद पै करि हंका-बंका—
पिक-नाँद आगें-आगें होत मन भायौ है।
भनत "कविंद" तारे सुभट अघोर जोर—
पैदर चकोर-मोर, सोर सरसायौ है ॥
सोहि तम अग्ग-खग्ग लैकर उदग्ग वर,
मदन-हरौल माँन-गढ पैजु धायौ है।
चमू-चंद्रिकाँन के पसारे अवलेस-नल—
तेसु आजु गौतँम-नरेस बनि आयौ है ॥"
"कढत निसाकर दिवाकर सौ दीठि परयौ—
अंधकार सो तौ एकु पल में पलायौ है।
भोर-भयौ जाँन कैं बिहँगँन में सोर मच्यौ,
अवनि-अकास में प्रकास सरसायौ है ॥

---

* संदेहालंकारसे अलंकृत कुछ ऐसी ही अनूठी उक्ति महाकवि केशवदासने भी कही है, यथा—

"फूलन की सुभ गेंद नई, सूँघि सची जनु डारि दई।
दरपन सो ससि श्रीरति कौ, आसँन काँम-महीपति कौ ॥
मोतिन कौ स्रुति भूषन मनो, भूलि गई रवि की तिय मनो।
देवनदी-जल राँम कह्यौ, माँनहुँ भूलि सरोज रह्यौ।
फेंन किधौं नभ-सिंधु लसै, देवनदी-जल हंस बसै ॥"
—आदि-आदि।

कोऊ कहै मृग-मद, कोऊ कहै राहु-रद,
कोऊ कहै नीलगिरि, सोभा आस-पास की ॥
"भंजन" जू मेरे जाँन चंद्रमा कौं छीलि बिधि—
दैन चाँही समता जो राधा-मुख खास की।
तादिन तैं छाती छींन भई है छपाकर की,
वार-पार दीखत है नीलमा अकास की ॥'

❀

सुंदर बदन तेरौ सोभा कौ सदॅन राधे ?
मदॅन बनायौ चारि-बदॅन बनाइ कें।
ता की रुचि लॅन कौं उदित भयौ रॅनि-पति,
राखौ मति-मूढ़ निज कर बगराइ कें ॥
कहै कबि "चिंतामनि" ताहि निसि-चोर जानि-
दई है सजा सु पाक-सासन रिसाइ कें।
यातें सदाँ फिरै अमरावती के आस-पास,
मुख पै कलंक-मिसि कारिख लगाइ कें ॥*

---

* कुछ ऐसी बात कवि गोविंद-गिल्ला भाईने भी कही है, जैसे—

अमृत कौं ऐंचि धरयौ राधिका के ओठन में,
चंद्रिका-छिनाइ दई देखौ दसनादि कौं।
षोडस-कलानि-काटि बत्तिस बनाए दंत,
जा कौं बिलोकि हीरा पावत प्रमाद कौं ॥
यौवॅन-सकति छींन धारी है बचन माँहिं,
ऐसें सब छींन लियौ मेंटि मरजाद कौं।
"गोबिंद" कहत तब काइ में कलेस पाइ,
चंद लै कलंक नभ फिरत फिराद कौं ॥
अथवा—
"जगमगात है छींन कौं, या आँनन लौं चंद।
ताही तें पूरन भएँ, मंद परत तम फंद ॥

मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुधाई के।
कहै "पद्माकर" गिरीस के बस्यौ है सीस,
तारन कौ ईस, कुल-कारँन-कँन्हाई के॥
हाल ही तू बिरह-बिचारी ब्रज-बाल ही पैं-
ज्वाल से जगावत जुवाल सी जुन्हाई के।
ऐरे मति-मंद-चंद आवत न तोहि लाज,
है कें द्विजराज, काज करत कसाई के॥"*
"करत निकाँम-काँम स्याँम-मुख जाकौ भयौ,
बिधि सब अंग स्याँम कोइल बनाई तू।

---

* पद्माकरजीके इस भव्य-भावको अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह उपनाम "द्विजदेव" जीने भी अपनाया है, जैसे—

"साँझ ही तें आवत हलावत कटारी-कर
पाइ कें कुसंगत कृसाँनु-दुखदाई कौ।
निपट, निसंक है तजी तें कुल-काँनि-खाँनि,
औगुन अनेक नेंकु तुलै न बाप-भाई कौ॥
ऐरे मतिमंद-चंद, आवत न लाज तोहि,
देति दुख बापुरे-बियोग-समुदाई कौ।
है कें सुधा-धाँम काँम-विष कों बगारे मूढ़,
है कें द्विजराज, काज करत कसाई कौ॥"

कुछ ऐसा ही किसी संस्कृत-कविने भी कहा है, जैसे—

"मूर्तिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः श्रीकौस्तुभो सोदरो
सौदार्दं कुमदाकरेषु किरणः पीयूषधाराकिरः।
स्पर्धा ते वदनाम्बुजैर्मृगदृशा तत्स्थाणुचूडामणे
हंहो चन्द्र! कथं न लिम्पसि मयि ज्वालामुचो सेचि॥"

गुणातीत—गुण+अतीत, गुणोंसे परे, पृथक्, निर्गुण। गुणोंके प्रभावसे पृथक्। त्रिगुणात्मिकासे निर्लिप्त।

वेदान्तवादी जिसे माया कहते हैं उसीको सांख्यवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं, अतः त्रिगुणातीत होना ही गुणोंसे परे होना ही, मायासे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त होना, पहिचान लेना कहा है। इसीको 'ब्राह्मी अवस्था' भी कहते हैं, जैसे—

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि न संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥"
"उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥"
× × × ×
"समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥"
"मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी "गुणातीतः" स उच्यते॥"
—श्रीमद्भगवद्गीता १७। २२, २३, २४, २५

—अर्थात् हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (क्रमसे रज, तम आदि गुणोंके कार्य अथवा फल) होनेसे जो उनका [illegible]रता और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा भी नहीं रखता, [illegible] रहता है, अर्थात् गुण जिसे चल-विचल नहीं कर [illegible] ही मानकर स्थिर रहता है कि गुण अपना-अपना [illegible] उनका क्या प्रयोजन। जो डिगता नहीं— सुख-दुःख जिसे एक-से ही हैं। मिट्टी, पत्थर और

गुणातीत—गुण+अतीत, गुणोंसे परे, पृथक्, निर्गुण। गुणोंके प्रभावसे पृथक्। त्रिगुणात्मिकासे निर्लिप्त।

वेदान्तवादी जिसे माया कहते हैं उसीको सांख्यवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं, अतः त्रिगुणातीत होना ही गुणोंसे परे होना ही, मायासे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त होना, पहिचान लेना पड़ता है। इसीको 'ब्राह्मी अवस्था' भी कहते हैं, जैसे–

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥"
"उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥"
× × × ×
"समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥"
"मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी "गुणातीतः" स उच्यते॥"

—श्रीमद्भगवद्गीता १७। २२, २३, २४, २५

—अर्थात् हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (क्रमसे स, रज, तम आदि गुणोंके कार्य अथवा फल) होनेसे जो उनका नहीं करता और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा भी नहीं रखता,
) रहता है, अर्थात् गुण जिसे चल-विचल नहीं कर
ना ही मानकर स्थिर रहता है कि गुण अपना-अपना
, मुझसे उनका क्या प्रयोजन। जो डिगता नहीं—
पाता, सुख-दुःख जिसे एक-से ही हैं। मिट्टी, पत्थर और

गुणातीत—गुण+अतीत, गुणोंसे परे, पृथक्, निर्गुण । गुणोंके प्रभावसे पृथक् । त्रिगुणात्मिकासे निर्लिप्त ।

वेदान्तवादी जिसे माया कहते हैं उसीको सांख्यवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं, अतः त्रिगुणातीत होना ही गुणोंसे परे होना ही, मायासे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त होना, पहिचान लेना कहा है । इसीको 'ब्राह्मी अवस्था' भी कहते हैं, जैसे–

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि न संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥"
"उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥"

× × × ×

"समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥"
"मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी "गुणातीतः" स उच्यते ॥"

—श्रीमद्भगवद्गीता १४ । २२, २३, २४, २५

—अर्थात् हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (क्रमसे सत्व, रज, तम आदि गुणोंके कार्य अथवा फल) होनेसे जो उनका द्वेष नहीं करता और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा भी नहीं रखता, जो उदासीन-सा रहता है, अर्थात् गुण जिसे चल-विचल नहीं कर सकते; वह इतना ही मानकर स्थिर रहता है कि गुण अपना-अपना काम करते हैं, मुझसे उनका क्या प्रयोजन । जो डिगता नहीं—विकार नहीं पाता, सुख-दुःख जिसे एक-से हो हैं । मिट्टी, पत्थर और

सोना जिसे समान है, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति भी जिसे समा हैं और जो सदा धैर्यसे युक्त है । मान-अपमान या मित्र और श जिसे तुल्य हैं—बराबर हैं और जिसके सब उद्योग (काम्य) छूट गं हैं, उसे "गुणातीत" कहते हैं ।

भगवाँन—षट्-ऐश्वर्य-युक्त, नारायण । षट् (छै) ऐश्वर्य यथा—

> "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥"
>
> —विष्णुपुराण ६ । ५ । ७४

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदिसे संयुक्त, भगवान्, अथवा—

> "उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
> वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥"
>
> —विष्णुपुराण ६ । ५ । ७८

अर्थात् उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियोंका आना-जाना, विद्या और अविद्याको जाननेवाला 'भगवान्' कहे जाते हैं । अथवा—

> "भगंश्री योनिवीर्येच्छाज्ञानवैराग्यकीर्तिषु ।
> माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षे च मार्त्यौ ॥"
>
> —मेदिनी

हरि, तरनि, चंद, गुनौंतीत और भगवाँन शब्दके सरस प्रयो

> "'हरि' दुराइ अँखिनि सब भाईं ॥" —सूर
> "शीतल 'तरनि'-तनया नीर ।" —[illegible]
> "'चंद' निचौवा सिरी सीवा सिरी ।" —सूर
> "गुनौंतीत भगवाँन कहावै ।" —मधुर अलि

२४

गोपी-वचन

दुराई—छिप रहा। दिव्य-दृष्टि (दृष्टि)—अलौकिक ज्ञान-संपन्न। सर्वज्ञ। बिसवास (विश्वास)—प्रतीत, धारणा, भरोसा। यथा—

"समौ विश्रंभविश्वासौ······।"

—अमरकोष २। ८। २३

विश्वास, अर्थात् वह धारणा जो कि मनमें किसी व्यक्ति-विशेषके प्रति उसका सद्‌भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता अथवा किसी सिद्धांत आदिकी सत्यता वा उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है। अथवा किसीके गुण आदिका निश्चय होनेपर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाले मनके भावको—प्रतीतको विश्वास कहते हैं।

कूप—कुआँ, इनारा आदि······।

"पुंस्येवाऽन्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा।"

—अमरकोष १। १०। २६

दुराई, दिव्य-दृष्टि, बिसवास और कूपके सरस प्रयोग।

"राधे, परम सुजान 'दुराई' कित मो बंसी॥"

—रसिकदास

"जाइ न देख्यौ दिव्य-दिष्टि-बिनु, कोटिक करौ उपाई।"

—परमानंददास

"सुनि राधे, नवनागरी हो, हमन करें बिसवास।"

—हरिराम

"चिबुक—"कूप" की का कहौं सोभा।"

—कृष्णदास

भक्त-प्रवर श्रीनारदजीने अपने भक्ति-सूत्रमें—किसी भी पदार्थसे ाढ़ प्रेम रखनेको 'भक्ति' कहा है, जैसे—

"सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"*

—नारदभक्तिसूत्र-२

भक्तिके सबसे प्रथम दो-भेद—रागात्मिका,† जिसे 'अहैतुकी' ो कहते हैं और 'वैधी' (स्वार्थमय, या गौणी) कहे जाते हैं। वैधी सें कि 'गौणी' भी कहा जाता है पुनः तीन भेदोंमें विभाजित ो गयी है, जैसे—

"गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।"

—नारदभक्तिसूत्र-५६

अर्थात् गौणीभक्ति, सात्त्विक, राजस और तामस तीन गुणोंसे क्त हो सात्त्विकी (पवित्र), राजसी (अहंभाविक) और तामसी मोहरूप)—आदि तीन प्रकारकी होती है।

---

* भक्ति-रसामृतसिंधुके कर्त्ताने भी—"हमारे इष्ट पदार्थोंकी ओर ो हमारा आन्तरिक प्रेम रहता है, उसी उत्साहित प्रेमको भक्ति कहा है।"

† रागात्मिका 'भक्ति'की व्याख्या करते हुए श्रीरूप गोस्वामीजी हते हैं—

"इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥"

अर्थात् अपने प्रियमें स्वाभाविक प्रेम, पूर्ण आवेश और तन्मयतायुक्त ो भक्ति हो उसे 'रागात्मिका' भक्ति कहते हैं।

साधनाके अनुसार 'भक्ति' नौ प्रकारकी और कही जाती है
जैसे—

> "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"
>
> —भागवत ७।५।२३

जैन-मतानुसार भक्ति, वह ज्ञान है जिसमें निरतिशय आनंद हो—सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन विशिष्ट और वितृष्णाका दरकारक हो।

नवधा भक्ति जैसे—कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदनके अनंतर एक प्रकारकी और भी कही जाती है, जिसे "प्रेमरूपा फलात्मिका" भक्ति कहते हैं।

भक्तिमें दो विभाग हैं, एक प्रकृतिका दूसरा प्रत्ययका, अतः 'भज्' प्रकृति है और 'ति' 'प्रत्यय' भजका अर्थ है सेवा—परिचर्यारूप क्रिया और 'ति' का अर्थ है भाव, प्रेम या रति। अतएव प्रेमोत्तर सेवा, अर्थात् भगवत्-प्रेम होनेके लिये जो सेवा की 'भक्ति' कहा जाता है। भक्ति शब्दके अर्थके साथ और भी कही जाती है, वह यह कि जिस प्रकार भक्ति शब्द और प्रत्ययमें सेवा और प्रेम समाया हुआ है उसी प्रकार उस भी समाया हुआ है, क्योंकि—

> "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।"

अर्थात् ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं जो कि शब्दके

रहता, अतः सेवा-संबंधी, आत्मसंबंधी और ब्रह्मसंबंधी ज्ञानसहित प्रेम होनेके लिये जो विविधकी सेवा या कृति की जाय वह 'भक्ति' लाती है।

नारदजीने अपने 'भक्तिसूत्र'में ग्यारह प्रकारकी भक्ति जैसे—रके गुण माहात्म्यमें, उसकी सुन्दरतामें, स्मरणमें, सेवामें, दास, त्र और कांता-भावमें, पुत्र-भावमें आत्म-समर्पणमें, तन्मयतामें और म विरह मान उसके ध्यानमें प्रेम-आदि कही है, जैसे—

"गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति स्मरणासक्ति, स्यासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति वात्सल्यासक्ति, आत्म-वेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति,—रूपा एक-प्येकादशधा भवति ॥" —नारदभक्तिसूत्र-८२

निहकरम—शुद्ध निष्कर्म, अर्थात् कर्म-रहित, कर्मोंसे परे, लग, जो कामोंमें लिप्त न हो।

भक्ति और निहकरम शब्दके सरस प्रयोग—

"बिना 'भक्ति' क्यों जनम गमावै रे मूरख अग्यान।" —सूर

"बिस्नु नराइन कृष्ण जो, बासुदेव ही ब्रह्म ॥"
परमेस्वर परमातमा बिस्वंभर निहकर्म ॥"
—विश्रामसागर

उपनिषद् भी यही बात कहते हैं कि कर्मसे ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती, अपितु निष्कर्म होनेसे ही प्राप्ति होती है। जैसे—

"जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥"

सूरदासजी कहते हैं—

"इतियँन, सब कोउ समुझावै।
ऐसो कोउ नाँहिन आली, पीतम सिरी ब्रजनाथ मिलावै॥
आयौ दूत कपट कौ वासी, निरगुन-ग्यान बतावै।
सखा हमारे स्याँम-मनोहर, नैंननि-भरि न दिखावै॥
ग्याँन-ध्याँन कौ मरम न जानें चतुरहि चतुर कहावै।
'सूरजदास' सबै काहूकों अपनों हीं हित भावै॥"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"जौ पै ईस्वर साँचौ जाँन।
तौ क्यों जग कों सगरे मूरख झूँठौ करत बखाँन॥
जौ करता साँचौ है तौ सब कारजहूं साँच।
जौ झूठौ है ईस्वर तौ सब जग हू जानों काँच॥
जौ हरि एक अहै तौ माया यह दूजी है कौन।
"हरी चंद" कछु भेद मिल्यौ नहिं, थकौ जिय आयौ जौन॥"

—जैन-कुतूहल

२७

उद्धव-वचन

नश्वर—नाशवान, भंगुर, मिथ्या। वासुदेव— वसुदेवजीके पुत्र, भगवान् श्रीकृष्ण अथवा—

"वसति वासयति आच्छादयति सर्वमिति वा वासुः।
दीव्यति क्रीडते विजिगीषते व्यवहरति द्योतते स्तूयते
गच्छतीति वा देवः, वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः॥"

—विष्णुसहस्रनाम शां० भा०

अर्थात् बसते हैं, अथवा वासित यानी आच्छादित करते हैं इसलिये 'वासु' हैं और दिव्यति, अर्थात् क्रीडा करते, जीतनेकी इच्छा

अथवा—

"द्यौरक्षं पृथिवी चाधः तयोर्यस्मादजायत मध्ये वैराजरूपेण इति वा अधोक्षजः।"

अर्थात् आकाश अक्ष है और पृथ्वी अध है, भगवान् इनके मध्यमें विराट्रूपसे प्रकट होते हैं, इसलिये 'अधोक्षज' हैं।

अथवा—

"अधोभूते प्रत्यक् प्रवाहिते अक्षगणे जायते इति वा अधोक्षजः।"

अर्थात् अक्षगण (इन्द्रिय) के अधोमुख यानी अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होते हैं, इसलिये अधोक्षज हैं, यथा—

"अधोभूते ह्यक्षगणे प्रत्यक्प्रवाहिते।
जायते तस्य वै ज्ञानं तेनाधोक्षज उच्यते॥"

अतः श्रीकृष्ण, नारायण—

"वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः।"

—अमरकोश

सरूपी—सरूपी, अपने स्वरूपकी—रूपकी। प्रापति—प्राप्ति, पाना, लाभ अधिगम, उपार्जन।

"प्राप्तिर्महोदये, लाभेऽपि च स्त्रियाम्।"

—मेदिनीकोश

नश्वर, वासुदेव, अधोच्छज, सरूपी और प्रापति आदि शब्दोंके सरस प्रयोग।

"नश्वर सकल बिस्व, हरि नाँहीं।" —श्रीसूर

"जनमे आइ वसुदेव-देवकी,'वासुदेव'कहिवाए।"—कृष्णदास

अथवा—

"द्यौरक्षं पृथिवी चाधः तयोर्यस्मादजायत मध्ये वैराजरूपेण इति वा अधोक्षजः।"

अर्थात् आकाश अक्ष है और पृथ्वी अध. है, भगवान् इनके मध्यमें विराट्‌रूपसे प्रकट होते हैं, इसलिये 'अधोक्षज' हैं।

अथवा—

"अधोभूते प्रत्यक् प्रवाहिते अक्षगणे जायते इति वा अधोक्षजः।"

अर्थात् अक्षगण (इन्द्रिय) के अधोमुख यानी अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होते हैं, इसलिये अधोक्षज हैं, यथा—

"अधोभूते ह्यक्षगणे प्रत्यग्रूपप्रवाहिते।
जायते तस्य वै ज्ञानं तेनाधोक्षज उच्यते॥"

अतः श्रीकृष्ण, नारायण—

"वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः।"

—अमरकोश

सरूपी—स्वरूपी, अपने स्वरूपकी—रूपकी। प्रापति—प्राप्ति, पाना, लाभ अधिगम, उपार्जन।

"प्राप्तिर्महोदये, लाभेऽपि च स्त्रियाम्।"

—मेदिनीकोश

नस्वर, वासुदेव, अधोच्छज, सरूपी और प्रापति आदि शब्दोंके सरस प्रयोग।

"नस्वर सकल बिस्व, हरि नाँहीं।" —श्रीसूर

"जनमे आइ बसुदेव-देवकी,'बासुदेव'कहिवाए।"—कृष्णदास

"नेति-नेति कहि बेद पुकारत, सुक, 'अधोक्षज' रूप

"बुद्धि-मरूपी, कहौं नाहिं कछु ग्याँन बखानौं।"

"आवति मँहैज भाँस की होइ।"

—चरनदास

२८

गोपी-वचन

नास्तिक—ईश्वरको न माननेवाला, अनीश्वरवादी, अथवा श्रुति-स्मृतियोंको प्रमाण नहीं मानते, वेद-निंदक पाखंडी।

"नास्तिको वेदनिन्दकः।"

अथवा—

"नास्तिकाय कृतघ्नाय··· ।"

—मुक्तिकोपनिषद् १।४८

निज—अपना, यथार्थ, सच्चा, खास। भाँनु—सूर्य, सूरज, भास्कर आदि—

"भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः।"

—अमरकोश १।३।

परछाँहीं—शरीर या अन्य वस्तुकी माया, प्रतिबिंब, प्रतिछाया। करतल-आभास—हथेलीपर छाया, प्रतिबिंबकी तरह। कोटिक—करोड़ों। ब्रह्म—परमेश्वर।

नास्तिक, निज, भाँनु, परछाँहीं, करतल-आभास, कोटैन और ब्रह्म शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

"नास्तिकेन" कैसी रीति चलाई।"

—गोकुलदास

आई उघरि कनक-कलई ज्यों, दै 'निज' गए दगाई।"

—सूरदास

"उद्‍यौ 'भाँनु' ,आजु कित ह्वै तें...... ।"

—मानदास

"छुवँन पैहौ लाल, 'परछाँहीं' कित......।"

—लालदास

"लाल करौ 'कोटिक' चतुराई।"—ध्यानदास

"ब्रह्म-ब्रह्म क्यों बकत वृथाँ ही गुलवाऐ.......।"—सूरदास

आलमकवि कहते हैं—

"पतियाँ-पठाए अंसुपात तौ भलें पै होत,
बतियँन बिरह बितैबो कछु हाँसी है।
"आलम" निरास बॅन-सुने कौन जोरै नॅन,
हिए कौ कठिन ऐसौ कॉन ब्रज-बासी है॥
ऊधौ, यै सँदेसे जैऐ वाही चित-चोर पै लै,
आपुन कठिन भए और को बिसासी है।
बहाँ लौं न आवै नैंकु बाँसुरी सुनावै आँनि,
बिलसैगौ कहा आएँ जौ पै अबिनासी है॥"

—आलमकेलि

रत्नाकरजी कहते हैं—

"नैंम, ब्रत, संजम के पींजरै परै को जब—
लाज-कुल-काँनि-प्रतिबंधहिं निबारि चुकीं।
कौंन गुन-गौरव की लंगर लगावै जब—
सुधि-बुधि हीं कौ भार टेक करि टारि चुकीं॥

श्रीग-"रतनाकर" में साँस-बूँदि बूँदै कौन—
ऊधौ हम गूधौं बट मानिक बिचारि चुकीं।
मुनि-मुकता की मोल-तोल ही कहा है अब—
मोहनलला पै मन-मानिक हीं वारि चुकीं ॥"
—उद्धव

२९

कृष्ण-प्रति उपालम्भ-वर्णन

(प्रथम-कवि-उक्ति)

छबि-छाइ—छवि, सौंदर्य, छाइ फैलाता, विखेरता हुआ
अंबुज—कमल, पद्म। तरक—तर्क, विवेचना, हेतु-पूर्ण उक्ति,
चमत्कारपूर्ण कथन, कल्पना, । चुहलकी-हँसीकी बातें, चोजकी बातें,
चतुराईसे भरी बातें, व्यंग, ताना। यथा—

"अध्याहारस्तर्क ऊहः·····।"—अमरकोष १।५।३

तर्क, न्यायके सोलह पदार्थोंमेंसे—विषयोंमेंसे एक है। जब
किसी वस्तुके संबंधमें वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब उस
के ज्ञानार्थ—किसी निगमनके पक्षमें कुछ हेतुपूर्ण युक्तियाँ दी ज
हैं, जिसमें कि निगमनकी अनुपपत्ति दिखलायी जाती है। अतः
युक्ति-पूर्ण बातोंको 'तर्क' कहते हैं। तर्कमें शंकाका होना
आवश्यक है, क्योंकि जब शंका होगी तभी उसके प्रति हेतुपूर्ण उक्ति
दी जायगी।

छबि-छाइ, अंबुज और तरक शब्दोंका सरस प्रयोग।

"कैसी 'छबि-छाइ रही इन नैननि···।"—नागरीदास
"अंबुज-नैन कछुक रतनारे।"—स्यामदास
'तरक' करन बालक सब लखि-लखि···।"—सूरदास

३०

गोपी-वचन

नाथ—स्वामी, पति। रमा-नाथ—लक्ष्मीके पति। जदुनाथ—यदुनाथ भगवान् कृष्णका नाम विशेष। बिड़राति—मारी-मारी, बिना रखवालेके। दुख-जल-निधि—दुःखका समुद्र, सागर। अवलंब—सहारा आश्रय, शरण, आधार। निठुर—निष्ठुर, निर्दयी, कठोर, यथा—

"कक्खटं कठिनं क्रूरं कठोरं 'निष्ठुरं' दृढम्।"

—अमरकोष ३। १। ७६

नाथ, रमानाथ, जदुनाथ, बिड़राति, दुख-जल-निधि, अवलंब और निठुर—आदि शब्दोंके सुंदर प्रयोग।

"नाथ" कहाँ, ऐती देर लगाई।" —रामदास

"रमानाथ, 'जदुनाथ' गुसाँई, श्रीपति कमल-कंथ।" —मानदास

"सब दिन जात सखी, बिड़रात।" —गोकुलदास

"बूड़त-उतरत 'दुख-जल-निधि' में को करै······।" —सूरदास

"तुमहीं हौ 'अवलंब' नाथ, मो······।" —सूरदास

"ऐसौ निठुर' न मैंकौ मानत······।" —ग्वालदास

घनानंदजी कहते हैं—

"पहिलें 'घनआनँद' सींचि सुजान, कही बतियाँ अति-प्यार-पगी।
अब लाइ बियोग की लाइ बलाइ, बढ़ाइ बिसास-दगाँनि दगी॥
अँखियाँ-दुखियाँनि कुबाँनि परी, न कहूँ लगैं कौंन घरी सु लगी।
मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी॥"

अथवा—

"दीन भए जल-मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि सँमानैं।
नीरस-नेह को लाइ कलंक, निरास है कायर त्यागत प्रानैं॥
प्रीति की रीति सु क्यों समझै जड़-मीत सु पानें परे को प्रमानैं।
या मन की जु दसा 'घन-आनँद' जीव की जीवँन जाँनही जाँनैं॥"

—सुजानसागर

रहीमजी फरमाते हैं—

"कहियो पथिक, सँदेसवा गहिकैं पाँइ।
मोंहन, तुम बिन तनकहु रह्यो न जाइ॥"
"मोंहन-लेहु मयाकर मो सुधि आइ।
तुम-बिनु मीत, अहर-निसि, तरफत जाइ॥"

—रहीम रत्नाकर

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"वेगाँ आवौ प्यारा बनवारी, म्हारी ओर।
दीन-बचन सुनिताँ उठि धावौ, नेंकु न करहु अबारी॥
कृपा-सिंधु छाँड़ौ निठुराई अपनों बिरद सँभारी।
थाँनें जग दीणदयाल कहै छै, क्यों म्हारी सुरत बिसारी॥
प्राण-दाँन दीजै म्हाँनें प्यारा, हौं छूं दासी थारी।
क्यों नहिं दीठा-बैठा सुणआवौ, कौन चूक है म्हारी॥
तलफैं प्राण रहैं ना तण में, बिरह-बिथा बड़ी भारी।
'हरीचंद' गहि बाँह उबारो, तुम भी चतुर-बिहारी॥"

२१

...विधा—छलकी विधा, दगाबाजी, छिपनेकी विधा धूर्तता।
' —नम्र, हीन-दशा-सूचक। मीन—मछली। सवरे—
रदार।

छल-विद्या, दीन, मीन और रावरे शब्दोंका सुन्दर प्रयोग।

"नित नई 'छल-विद्या' करत, आवत तनक न लाज।"

—गोविंद स्वामी

"'दीन' बचन सुनि आतुर आए, मोहन मदन गुपाल।"

—सूरदास

"'मीन' ज्यों तलफत प्रान'-पिया-बिनु।" —लालदास

"केती मैं बड़ाई 'रावरे'की सुनी ······।"* —गोपालदास

घनानंदजी कहते हैं—

"मेरो मन तोहिं चाँहै, तू न तनको उमाँहै,
मीन-जल-कथा हैं कि याहू तें बिसेखिए।
ता बिन सो मरै, छूटि परै जड़ कहाँ टरै,
भरों हौं न मरौं जौन हिऐं अबरेखिए॥
पलकौ बिछोह भाग कलपौ अलप लागी,
बिलखौं सदाँई नेंकु तलफनि देखिए।
सूनौं जग हेरों रे अमोही काहि कहि टेरौं,
'आनँद के घन' ऐसी कौन लेखें लेखिए॥"

—सुजानसागर

रहीमजी फर्माते हैं—

"जाल परे जल जाति बहि, तजि मीनन को मोह।
'रहिमन' मछरी नीर कौ, तऊ न छाँड़त छोह॥

—रहीम-रत्नावली

* रावरे, राउरे आदि शब्दका प्रयोग ब्रजभाषामें बहुत कम मिलता है, कोशकारोंने भी इस शब्दको त्याज्य मानकर छोड़ दिया है। रावरो, राउरी शब्दोंका प्रयोग अवश्य मिलते हैं। राउर शब्दका भी प्रयोग मिलता है, यथा—

"भरत कि 'राउर' पूत न होंही।" —रामायण

३२

दुरि-दुरि—छिप-छिप । लोंन—लवण, नौन, नमक । कोरि—करोड़, गिनती विशेष, संख्या विशेष, गिननेकी संख्या विशेष । बहुताइत—विशेषता, अधिकता ।

दुरि-दुरि, लोंन, कोरि और बहुताइत शब्दोंका सुंदर प्रयोग ।

"दुरि-दुरि पिय-हिय अति तरसावै·····।" —मधुरअली

"राई-लोंन वारि-फेरि·····।" —सूरदास

"जतन 'कोरि' करि हँम सग हारीं·····।" —कुम्भनदास

"'बहुताइत' की प्रीति न तोरी, ए हो चतुर-बिहारी ॥"

—चतुर बिहारीदास

कुछ ऐसी ही बात धर्मदासजी भी कहते हैं—

"साहिब, चितवौ हमरी ओर ।
हम चितवै तुम चितवौ नाँहीं, तुम्हरौ हियौ कठोर ॥
औरँन कों तौ और भरोसौ, हमें भरोसौ तोर ।
'धरमदास' बिनवै कर-जोरी, साहिब कबीर बंदी-छोर ॥"

—संतबानी संग्रह २

घनानंदजी कहते हैं—

"चातक चुहल चहुँओर चाँहैं स्वाँति ही कों,
सूरेपन-पूरे जिन्हें बिष-सँम अँमी है ।
प्रफुलित होत भाँनु के उदोत कंज-पुंज,
ता बिन बिचारनि ही जोति-जाल तँमी है ॥
चाँही-अनचाँही जाँन प्यारे पै 'आनँदघन'
प्रीति-रीति बिषम सु रोंम-रोंम रँमी है ।
मोहि तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आँहि,
कहा कछु चंदहि चकोरन की कँमी है ॥"

अथवा—

"हम एकु तिहारियै टेकु गहैं, तुम छैल अनेकैंनि सों सारसौ ।
हम गाँम-अधार जिवावत ज्यौं, तुम है बिसवास बिषै बरसौ ॥
'घन आनँद' मीत सुजान सुनौं, तब गों-गहि क्यों अब मों सरसौ ।
तकि नेंकु दई त्यों दया दिग ह्वै, सु कहूँ किन दूरहूँ तें दरसौ ॥"

—सुजानसागर

३३

इतराइ—इतराना, घमंड करना । अधिकार—प्रभुत्व, हक ।
बधू—वल्हीना, नारी, स्त्री, यथा—

"स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधू ।"

—अमरकोश २ । ६ । २

इतराइ, अधिकार और अबला शब्दोंका सुंदर प्रयोग ।

"बात कहति ग्वालिनि 'इतराइ' ।" —सूरदास
"ब्रज कौ का 'अधिकार' लयौ तुम '''''।"

—गोविंद स्वामी

कुछ ऐसी ही बात आलम कविने भी कही है, जैसे—

"प्रेम, नेम गहें नेह बातें निरबहें जातें,
अब उन्हें कहा परी 'महाराज' भए हैं ।
कछुक सँदेसौ ऊधौ, मुख के सुनाउ आँनि,
हम मुख मानें, उन जेते दुख दए हैं ॥
इहाँ 'कवि आलम' पुरानी पैहिचाँनि जाँनि,
जोगी सुधि आए ते बियोगी भूलि गए हैं ।
इहाँ बैरी बिरह बिहाल करै बार-बार,
साहत करेजै मरसाक नित भए हैं ॥"

—आलमकेलि

३२

दुरि-दुरि—छिप-छिप। लौन—लवण, नौन, नम
कोरि—करोड़, गिनती विशेष, संख्या विशेष, गिननेकी सं
विशेष। बहुताइत—विशेषता, अधिकता।

दुरि-दुरि, लौन, कोरि और बहुताइत शब्दोंका सुंदर प्रयोग

"दुरि-दुरि पिय-हिय अति तरसावै·····।" —मधुरअली

"राई-लौन वारि-फेरि·····।" —सूरदास

"जतन 'कोरि' करि हँम सग हारौ·····।" —कुम्भनदास

"'बहुताइत' की प्रीति न तोरौ, ए हो चतुर-बिहारी॥"

—चतुर विहारीदास

कुछ ऐसी ही बात धर्मदासजी भी कहते हैं—

"साहिब, चितवौ हमरी ओर।
हम चितवैं तुम चितवौ नाँहीं, तुम्हरौ हियौ कठोर॥
औरँन कों तौ और भरोसौ, हमें भरोसौ तोर।
'धरमदास' बिनवै कर-जोरी, साहिब कबीर बंदी-छोर॥"

—संतबानी संग्रह २

घनानंदजी कहते हैं—

"चातक चुहल चहुँओर चाँहैं स्वाँति ही कौं,
सूरेपन-पूरे जिन्हें विष-सँम अँमी हैं।
प्रफुलित होत भाँनु के उदोत कंज-पुंज,
ता बिन बिचारनि हीं जोति-जाल तँमी हैं॥
चाँही-अनचाँही' जाँन प्यारे पै 'आनँदघन'
प्रीति-रीति विषम सु रोंम-रोंम रँमी हैं।
मोहि तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आँहि,
कहा कछु चंदहि चकोरन की कँमी हैं॥"

अथवा—

"हम एकु तिहारिये टेकु गेहैं, तुम रैल अनेकँनि सों सरसौ।
इम नाँम-अधार जिवावत क्यौं, तुम दै बिसवास बिपै बरसौ॥
'घन आनँद' मीत सुजान सुनौं, तब यौं-गहि क्यौं अब मौं सरसौ।
तकि नेंकु दई त्यों दया दिग ह्वै, सु कहूँ किन दूरहुँ तें दरसौ॥"

—सुजानसागर

३३

इतराइ—इतराना, घमंड करना। अधिकार—प्रभुत्व, हक।
अबला—बलहीना, नारी, स्त्री, यथा—

"स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधू।"

—अमरकोश २।६।२

इतराइ, अधिकार और अबला शब्दोंका सुंदर प्रयोग।

"बात कहति ग्वालिनि 'इतराइ'।" —सूरदास
"ब्रज कौ का 'अधिकार' लयौ तुम ·····।"

—गोविंद स्वामी

कुछ ऐसी ही बात आलम कविने भी कही है, जैसे—

"प्रेम, नेंम गहें नेह बातें निरबहें जातें,
अब उन्हें कहा परी 'महाराज' भए हैं।
कहुक सँदेसौ कह्यौ, मुख के सुनाउ आँनि,
हम सुख मानें, उन जैसे दुख दए हैं॥
इहाँ 'कवि आलम' पुराँनी पैहिचाँनि जाँनि,
जोगी सुधि आए ते बियोगी भूलि गए हैं।
इहाँ बैरी बिरह बिहाल करै बार-बार,
साहत करेजै नटसाल नित भए हैं॥"

—आलमकेलि

ठाकुर कवि कहते हैं—

"थेगरी न लागै ऊधो चित के चँदोआ फटें,
बिगरी नहिं सुधरै सनेह सरदँन कौ।
आपनेई हाथ लै कैं करत हवाल ऐसौ,
कावै हौंनहार यौं हवाल गरदँन कौ॥
"ठाकुर" कहत हौं बिचार यौं बिचारि देख्यौ,
बिरलौ मिलै है जो सदाइ दरदँन कौ।
बैर, प्रीति, रीति जासौं जैसी जहाँ मौंनि लई,
एक सौ निबाहिबौ है काँम मरदँन कौ॥"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"जोड़ की खोजि लाल, लरिऐ।
हम अबलँन पै बिना बात ही, रोष नहीं करिऐ॥
मधुसूदन, हरि, कंस-निकंदन, रावन-हरन मुरारि।
इन नाँमन की सुरत करौ, क्यों ठाँनत हमसौं रारि॥
निबलँन कौ बध जस नहिं पैहौ, साँची कहत गुपाल।
'हरीचंद' ब्रज ही पै इतने कहा खिस्याँने लाल॥

—प्रेम प्र

३४

व्याल-अनल—सर्प, साँपके जहरकी ज्वाला, अग्नि, आग यथा—

"···कृशानुः पावकोऽनलः।"

—अमरकोश १।१।५४

विष-ज्वाल—विष, जहरकी ज्वाला, लपटें, यथा—

"पद्धेऽग्रंयोर्ज्याल वीला······।"

—अमरकोश १।१।५१

. व्याल-अँनल, बिस-ज्वाल-आदिके सरस प्रयोग।

'व्याल-अँनल' सों सब सखा जरत लखि·········।"

—सूरदास

'विस-ज्वाल' तें रूप न उपजत·········।" —श्यामदास

श्रीनंददासजीने उक्त भाव श्रीमद्भागवतसे लिया है। जैसे—

"विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्-
वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद्विश्वतोभया-
दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥"

—श्रीमद्भागवत १०।३१।३

अर्थात्—

'सविष-ताल सों, व्याल-काल सों-
अनिल-मेघ सों, विद्युत-देव सों।
वृषम-व्योम सों, बिस्व-कोप सों,
रिषम, तू करी है सहाइ हो॥"

—कन्हैयालाल पोद्दार

नंददासजीके—"गोबरधँन बर धारि धरी रच्छा तुम कीनैं" रूप इस उक्त अवतरणपर 'रहीम' की भी एक सरस सूक्ति है, जैसे—

"जो 'रहीम' करिबो हुतो, ब्रजको इहै हवाल।
तो काहे कर पर धर्यो, गोबरधँन गोपाल ?॥"

—रहीम-रत्नावली

मतिरामजी कहते हैं—

"कहा दवागिनि के पिएँ, कहा धरें गिरि धीर।
बिरहानल में जरत ब्रज, बूड़त लोचन-नीर॥"

—मतिरामसतसई

नंददासके इस अंशपर कि——चोरि चित. लै गयौ निधिजीकी एक सूक्ति देखिये, जैसे——

> "माखन-चोरी सों भरी, पाकि रह्यौ नँदलाल।
> चोरन लाग्यौ अब लखौ, नेहिन कौ मन-माल॥"
>
> ——रतन

और भी——

> "तब गोवरधँन नख-धरयौ, गोपी-ग्वाल-बचाइ।
> अब गिरिधर, यह बिरह सिर, क्यों न उठावत आइ॥"
>
> ——रतनह

विशेष——

भ्रमर-गीतकी संपूर्ण प्रतियोंमें इस छंदके दोनों——'व्याल-अनल' और विष-ज्वाल' को समासांत पद माना है, जिससे अर्थमें पुनरुक्ति दोष आ जाता है। 'व्याल-अनल और विष-ज्वाल' एक ही घटनाके द्योतक हैं। अत: व्याल-अनलको समासांत पद न मान उसे पृथक्, अर्थात् व्याल पृथक् और अनल पृथक् करके अर्थ कर उसकी——घटनाक्रमकी संगति बैठेगी। अतएव व्याल, अघासुर और अनल, दावाग्नि, विष ज्वाल——कालिय सर्पके जहर लपटोंसे राख ली——बचा लीं, इत्यादि····। सूरदासजीने भी इन पृथक्-पृथक् ही वर्णन किया है, जैसे——

> "ऊधौ, हरि कहिएँ प्रतिपालक।
> ये रिपु तुम पहिलैं हति डारे, बहुरि भए अति सालक॥
> अंघ, बक, बकी, तिरनावत, केसी, ए सब मिलि ब्रज घेरत।
> सुनौं आँनि नंद-नंदन-बिन, बैर आपुनौं फेरत॥
> बस अपनी हाँसी फेरन कौं, इत रह्यौ करि घात।
> सबर 'सूर' सहाइ करै को, रही छिनक की बात॥"
>
> ——सूरदास

३५

पातक—वह कर्म जिसके करनेसे नरक जाया जाता है, कर्ता-को नीचे पटकने—ढकेलनेवाला कर्म, पाप, कल्मष, अघ, बदकारी, गुनाह-आदि।

"पातकोद्योगचरक ......।"

—अमरकोष ३।५।३३

प्रायश्चित्त-मतानुसार 'पातक' के नौ भेद कहे जाते हैं, जैसे—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीकरण, अपात्री-करण, जातिभ्रंशकर, मलावह और प्रकीर्णक।

करनहार—करनेवाले। पै-प्यावत—दूध पिलाते, यथा—

"प्रथम कंस पूतना पठाई।
नंद-घरनि जहँ सुत लएँ बैठी, चलि तिहि धाँमहि आई॥
अति मोहिनी-रूप धरि लीन्हों, देखति सबही के मन-भाई।
जसुमति रही देखि वाकौ मुख, का की बधू कौन धौं आई॥
नंद-सुवन सबहीं पहिचाँनी, असुर-घानि असुरँन की जाई।
आयुत बज्र-सँमान भए हरि, माता दुखित भई अरिपाई॥
अहो महरि, पालागन मेरौ, हौं तुम्हरौ सुत देखँन आई।
यह कहि गोद लयौ अपने तब, त्रिभुवन-पति अति मन मुसिकाई॥
मुख-चूम्यौ गहि कंठ लगाए, बिष-लपट्यौ अस्तन मुख लाई।
पै-सँग प्रान एँचि हरि लीए, जोजँन एक परी मुरिझाई॥
त्राहि-त्राहि करि ब्रज-जन धाए, अति बालक क्यों बच्यौ कँन्हाई।
अति आँनँद-सहित सुत पायौ, हिरदै-माँसि रहे लपटाई॥
करवर टरी बड़ी, सेरे, की, घर-घर आँनँद करत बधाई।
'सूर' स्याँम पूतनाँ-पछारी, यै सुनि जिय डरप्यौ नृपराई॥"

—सूरसागर

नंददासके इस अंशपर कि—"चोरि चित ले गयौ"… निधिजीकी एक सूक्ति देखिये, जैसे—

"माखन-चोरी सों भरी, परकि रह्यौ नँदलाल।
चोरन लाग्यौ अब लखौ, नेहिन कौ मन-माल॥"

—रत्नाकर

और भी—

"तब गोवरधँन नख-धरयौ, गोपी-ग्वाल-बचाइ।
अब गिरिधर, यह बिरह सिर, क्यों न उठावत आइ॥"

—रत्नाकर

विशेष—

भ्रमर-गीतकी संपूर्ण प्रतियोंमें इस छंदके दोनों—'व्याल-अनल और विष-ज्वाल' को समासांत पद माना है, जिससे अर्थमें पुनरुक्ति दोष आ जाता है। 'व्याल-अनल और विष-ज्वाल' एक ही … द्योतक है। अत: व्याल-अनलको समासांत पद न मान उसे पृथक्, अर्थात् व्याल पृथक् और अनल पृथक् करके अर्थ … उसकी—घटनाक्रमकी संगति बैठेगी। अतएव व्याल, … अघासुर और अनल, दावाग्नि, विष-ज्वाल—कालिय सर्पके … लपटोंसे राख ली—बचा ली, इत्यादि…। सूरदासजीने भी … पृथक्-पृथक् ही वर्णन किया है, जैसे—

"ऊधौ, हरि कहियै प्रतिपालक।
जे रिपु तुम पहिलैं हति छाँड़े, बहुरि भए अति सालक॥
अघ, बक, बकी, तिनावत, केसी, ए सब मिलि ब्रज घेरत।
सूनौं आँनि मंत्र-मंत्रन-बिन, बैर आपुनौं फेरत॥
अब भाँनी हौंसी फेरन कौं, ईस रह्यौ करि पात।
सखा 'सूर' सहाइ करौ कौं, रही बिनेई की बात॥"

—सूर

३५

पातक—वह कर्म जिसके करनेसे नरक जाया जाता है, कर्ताको नीचे पटकने—ढकेलनेवाला कर्म, पाप, कल्मष, अघ, बदकारी, गुनाह आदि।

"पातकोद्योगचरक ········।"

—अमरकोष ३ । ५ । ११

प्रायश्चित्त-मतानुसार 'पातक' के नौ भेद कहे जाते हैं, जैसे—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीकरण, अपात्रीकरण, जातिभ्रंशकर, मलावह और प्रकीर्णक।

करनहार—करनेवाले। पै-प्यावन—दूध पिलाते, यथा—

"प्रथम कंस पूतना पठाई।
मंद-घरनि अहँ सुत लएँ बैठी, चलि तिहि धाँमहिं आई॥
अति मोहिनी-रूप धरि लीन्हौं, देखति सबही के मन-भाई।
जसुमति रही देखि वाकौ मुख, का की बधू कौन धौं आई॥
नंद-सुवन सबहीं पहिचाँनी, असुर-घरनि असुरँन की जाई।
आपुन वज्र-सँमान भए हरि, माता दुखित भई अरिपाई॥
अहो महरि, पालागन मेरी, हौं तुम्हरो सुत देखँन आई।
यह कहि गोद लयौ अपने तब, त्रिभुवन-पति अति मन मुसिकाई॥
मुख-चूम्यौ गहि कंठ लगाए, विष-लपटयौ अस्तन मुख लाई।
पै-सँग प्रान ऐंचि हरि लीए, जोजँन एक परी मुरिझाई॥
आहि-चाहि करि ब्रज-जन धाए, अति बालक क्यों बच्यौ कँन्हाई।
अति आँनंद-सहित सुत पायौ, हिरदे-माँहि रहे लपटाई॥
करबर टरी बड़ी, मेरे की, घर-घर आँनंद करत बधाई।
'सूर' स्याँम पूतनाँ-पछारी, यै सुनि जिय हरष्यौ सुरराई॥

—सूरसागर

पूतनौं—राक्षसीविशेष, इस राक्षसीको—दानवीको कं कृष्णके मारनेके लिये गोकुलको भेजा था। यह मायासे अपने सर्वसुंदर बनाकर नंदके घर गयी थी और वहाँ श्रीकृष्णको अपनी गोदीमें ले विष-लगा स्तन पान कराने लगी। श्रीकृष्ण भी स्तन पान करने लगे, जिससे दानवी पूतनाके स्तनोंमें पीड़ा होने लगी। अतः उसने अपना असली रूप प्रकट कर स्तन छुड़ाना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण कब छोड़ने लगे। विशेष वेदना होनेपर दानवी घोर गर्जन करती हुई सदाके लिये सो गयी और श्रीकृष्ण उसकी छातीपर खेलने लगे।

मित्र—वह जो सब बातोंमें अपना साथी, सहायक, समर्थक और शुभचिंतक हो, सब प्रकारसे अपने अनुकूल आचरण करनेवाला और अपना हित चाहनेवाला। बन्धु, सखा, सुहृद्, दोस्त आदि।

"अथ मित्रं सखा सुहृद्।"

—अमरकोश २। ८। ११

पातक, करनहार, पै-प्यावन, पूतनौं और मित्र शब्दके प्रयोग, यथा—

'नहिं ब्यापत सनकौ तम 'पातक' कारन-करता-आप।"

—सूरदास

"जग के 'करनहार' तुम स्वाँमी, सचराचर सु समाद्।"

—गोरीदास

"रवि कैं माल लगाइ चरोवन, है रवि सौं 'पै-प्यावन।"

—सूरदास

"कपट करि मतहि 'पूतनौं' आई।"

—सूरदास

"कपटी 'मित्र' कीन्ह दुसराई ...... ।"

—चरनदास

कुछ-कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

"उघरि आए, कीन्ह कपट की खोनि ।
सावसु हरी बजाइ-बाँसुरी, अब छोड़ी पैड़चौनि ॥
जिन पै-प्यावत पूतनाँ मारी, दालत करी न हाँनि ।
बलि-छलि बाँधि पताल पठायौ, नेंक न कीनी कानि ॥
जैसें बधिक अधिक मृग बिधवत, राग-रागिनी ठाँनि ।
अवधि-आस परतीति ओट दै, हँनत बिरस मर-तानि ॥
जैसें नारस टरत न उर तें, सुम ऊधौ, अति जाँनी ।
'सूरदास' प्रभु के जिय भावै, आयुस मार्यै माँनी ॥"

—सूरसागर

३६

आगें—अगाड़ीसे ही, पहिलेसे ही। रामचंद—अयोध्याके इक्ष्वाकु-वंशी राजा महाराज दशरथके बड़े पुत्र जो ईश्वर या विष्णु भगवान्-के बारह कलायुक्त मुख्य अवतार माने जाते हैं और जिनकी कमनीय कथा रामायणमें वर्णित है।

विश्वामित्र—एक लोकप्रसिद्ध महर्षि, इनको गाधिज, गाधेय और कौशिक भी कहते हैं।

विश्वामित्र, कान्यकुब्ज देशके महाराज 'गाधि' के पुत्र थे, अतः क्षत्रियकुलमें जन्म लेनेपर भी अपने तपोबलसे महर्षि कहलाये। ऋग्वेदमें अनेक मंत्र हैं जिनके दृष्टा विश्वामित्र और उनके वंशज माने जाते हैं। इनको विश्वामित्र नाम ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेपर

विश्वामित्रकी शरण ली, और इन्होंने उसे सशरीर स्वर्ग पहुँचा दिया। ये बड़े क्रोधी थे, प्रायः लोगोंको तनक-तनक-सी बातोंपर शाप दे दिया करते थे। महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्यताकी परीक्षा लेनेवाले आप ही थे।

तारका—ताड़का, राक्षसीविशेष, जिसे कि विश्वामित्र ऋषिकी आज्ञासे श्रीरामचन्द्रने मारी थी।

कहते हैं ताड़का, सुकेतु नामक एक वीर यक्षकी कन्या थी। सुकेतुने तपस्याद्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न कर इस बलवती कन्याको पाया, जिसमें हजार हाथियोंका बल था। यह कन्या सुकेतुने सुंदको ब्याही। एक बार अगस्त्य ऋषिने किसी बातपर कोपित हो सुंदको मार डाला; अतः ये अपने पुत्र मारीचको लेकर ऋषिको खा जानेके लिये दौड़ी। इसपर ऋषिने शाप दिया और ये माता-पुत्र दोनों राक्षस हो गये। उसी बैरके कारण ऋषिके तपोवनका नाश करने लगे, जिससे वह तपोवन प्राणियोंसे शून्य हो गया। यह सब व्यवस्था विश्वामित्र-महाराज दशरथजीसे वह श्रीरामचंद्र और लक्ष्मणको लाये और उनके हाथसे ताड़काका वध कराया, यथा—

ऋषि सँग हरषि चले दोउ भाई।
पितु-पद बंदि सीस लै आयुस, सुनि सिव आसिस पाई॥
नील-पीत-पाथोज बरन बपु, बै किसोर बनि आई।
सर-धनु-पानि, पीतपट कटि-तट, कसे निषंग बनाई॥
ललित अंग भनि-आल कलेवर, चंदन खौरि सुहाई।
अंस बदन, सरोरुह लोचन, मुख-छबि बरनि न जाई॥

'भले भए 'कुलदीप' छाडिले, मागत लाज न आई ॥'

—गंगाबाई

…छ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

'को गोपाल कहाँ को बासी, कासों है पैहचाँनि ।
तुम सँदेस कोंन के पठए, कहत कोंन कैं आँनि ॥
अपनी चोंप मधुप उड़ि बैठत, भोर भलें रस-जाँनि ।
पुनि यह बेलि बढ़ी कै सूखौ, ताहि कहा हित-हाँनि ॥
प्रथम बेनु मन हरयो अहीरिन, राग-रागिनी-ठाँनि ।
पुनि वौ बधिक बिसास सुघाती, हँनत बिसम-सर-ताँनि ॥
दै-प्यावत पूतनौं बिनाँसी, छले सु बलि से दाँनि ।
सूपनखा, तारका निपाती, 'सूरदास' यै बाँनि ॥

—सूरसागर

३७

…स्त्री-जित—स्त्रीके आधीन, स्त्री-वश्य, स्त्रीने जीन लिया, …। लघु-लाघव—लक्ष्य, निशाना मारनेमें चतुर। कोपि—कोपकर, …त होकर, गुस्सेमें आकर। विरूप—कुरूप, भोंडा, लोपि—…, तोड़कर, नष्टकर।

…स्त्री-जित, लघु-लाघव, कोपि, विरूप, और लोपि शब्दोंके …प्रयोग, यथा —

"ए निरखे 'इसत्री-जित' पुरे, तनक न मौंन-अमाँन।

—शनदास

"लघु-लाघव में चतुर कहावत, ऐ ढोटा दोउ बारे ॥"

—रामदास

"गिरि पे 'कोपि' कर चढ्यौ इंद्र रिस्याइ।"

—केशोदास

अथवा—

"वनमाली तु गोविंदे……।"

—मेदिनीकोष

अथवा वनमालाको जो धारण करे वह 'वनमाली'। वनमाला—

"आपादपद्मं या माला 'वनमालि' इति सा मता।"

—कलिंगे

यथा—

"भूततन्मात्ररूपां वैजयन्त्याख्यां वनमालां
—वहन् सा 'वनमाली'।" —विष्णुसहस्रनामशांकरभाष्य

—अर्थात् भूततन्मात्रोंसे बनी हुई वैजयंती नामक वनमाला धारण करनेसे भगवान् 'वनमाली' कहलाते हैं।

बाँमन—शुद्ध वामन, विष्णु भगवान्का नाम विशेष, विष्णुका पाँचवाँ अवतार जो कि दानवपति बलि राजाको छलनेके निमित्त हुआ था,

यथा—

"जैसे भयौ 'बाँमन' अवतार।
कहौं सुनौं सो अब चित-धार॥
हरि जब अमृत सुरन-पियायौ।
तब बलि असुर बहुत दुख पायौ॥
शुक्र ताहि पुनि जग्य करायौ।
सुर जै, राज्य त्रिलोकी पायौ॥
निन्यानवे जग्य पुनि किए।
तब दुख भयौ अदिति के हिए॥
हरि-हित उन्हें पुनि बहुत पुकारयौ।
'सूर' स्याम बाँमन-वपु धारयौ॥"

लोभ—तृष्णा, लालच, दुब्ध, दूसरेके पदार्थको लेनेकी करना।

आली, बलिराजा, बनमाली, बाँमन, परवत, अकाइ, सत्त और शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

"हो मेरी 'आली' भाँनु-सुता के तीर अँबीर उड़ावहीं।"

—परमानंददास

"सुनि आँनद चले 'बलिराजा' आहुति जग्य बिसारी।"

—सूरदास

"ग्राही उत 'बनमाली' गैल में···माँगत गोरस दाँन।"

—चतुर्भुजदास

"चारों बेद पढ़त मुख आगर, है 'बाँमन' बपुधारी॥"

—सूरदास

"भावौ लिंगदि सकल ब्रजबासी, 'परवत' कौं बलि दीजै।"

—आसकरन

"यदि 'अकाइ' फारि मुख दीन्हौ·········।" —सूरदास

"ग्वालिनि 'सत्त' बचन मुख भाँखि।" —कृष्णदास

"दूध, दही कौ 'लोभ' न मेरैं, चाहैं जेतौ खाइ।"

—माधौदास

नंददासजीने ३० और ३८ वें छंद, श्रीमद्भागवतके निम्न-श्लोकोंके आधारपर रचे हैं—

"मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥"

—श्रीमद्भागवत १०। १७

ज्ञानकी परिभाषामें न्याय-आदि दर्शनकारोंका अभिमत है कि— "जब विषयोंका इंद्रियोंके साथ, इंद्रियोंका मनके साथ और मनका आत्माके साथ संबंध होता है, तभी 'ज्ञान' उत्पन्न होता है।

दुविधा और ग्यानके प्रयोग, यथा—

"गई न मन तें 'दुविधा' अबतक, खोटे और खरेकी।"

—ज्ञानदास

"निरगुन-'ग्यान' सिखावन आयौ ....।"

—सूरदास

४५

भँमर—भ्रमर, भौंरा, भँवरा, अलि, षट्पद मधुप, भृंग, मधुव्रत।

"मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालितः।
द्विरेफपुष्पलिड्भृंगषट्पदभ्रमरालयः ।"

—अमरकोश २ । ५ । २९

ब्रज-वनिता—ब्रजकी स्त्रियाँ, नारी। पुंज—समूह, झुंड। अरुन—अरुण, लाल। यथा—

"अव्यक्तरागस्त्वरुणः......।"

अमरकोश—१ । ५ । १५

मधुप—भौंरा, भ्रमर।

भँमर, ब्रज-वनिता, पुंज, अरुन और मधुप शब्दके सुंदर प्रयोग यथा—

"मौंनों परम अनूप कंज पै, 'भँमर' रह्यौ मड़राइ।"

—कुंभनदास

घातें, कपटी और नंदकिसोर शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"सूरस्याँम नागर नागरि सों, करत प्रेमकी 'घातें'।"

—सूरसागर

"कपटी, कुटिल, सँघाती तेरौ, मधुकर कहा लजात॥"

—परमानंददास

"होरी खेलि नेंकु नहिं जानत, नागर 'नंदकिसोर।"

—माधौदास

श्रीसूर कहते हैं—

"मधुकर, का निसुान ह्याँ गावौ।
ए प्रिय-कथा नगर-नारिनि सौं, कहहु जहाँ कछु पावौ॥
जिन परसौ अब चरन हमारे, बिरह-ताप उपजावौ।
सुंदर-मधु-आँनन अनुरागी, नैंननि आँनि मिलावौ॥
जाँनति मरम नंद-नंदन कौ, और प्रसंग चलावौ।
हँम नाहिंन कँमला सी भोरीं, करि चातुरी मनावौ॥
अति बिचित्र लरिका की न्याँईं, गुर-दिखाइ बौरावौ।
ज्यौं अलि कितव सुमन-रसलै तजि, जाइ बहुरि नहिं आवौ॥
नागर रति-पति 'सूरदास' प्रभु, किहि बिधि आँन मिलावौ॥

—सूरसागर

अथवा—

जा-जा रे भँवरा, दूरि-दूरि।
तेरौ सौ अँग-रँग है उनकौ, जिन मेरौ चित कियौ चूरि-चूरि॥
जब लगि तरुन-फूल महकति हैं, तब लगि रहत हजूरि-जूरि।
'सूर' स्याँम हरि मतलब के मधुकर, लेत कली-रस घूरि-घूरि॥"

—रागरत्नाकर

"गोकुल" तिहारी यै पाती बाँचि है शु कौंन,
ताहू मैं तौ कारे-आखरनि हीं की पाँति है।
जा दिन तैं मिले वा गँमार-गूजरी तैं कान्ह,
ता दिन तैं कारौ रंग देखें अनखाति है॥"

—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

गोपी-नाथ—गोपियोंके नाथ, रक्षक, सहायक। *जदु-कुल*—यदुकुल, यदुनामक क्षत्रियोंका कुल, पीढ़ी, यदुवंश।

महाराज 'यदु' राजा ययातिके बड़े पुत्र थे, जो शुक्राचार्यकी कन्या देवयानीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ययातिको अपनी अवस्था न देनेपर उनके शापसे इनका राज्य भ्रष्ट हो गया था। पीछेसे इन्द्रकी कृपासे इन्हें पुनः राज्य मिला था। भगवान् श्रीकृष्ण आपके ही प्रसिद्ध वंशमें अवतरित हुए थे।

लाजौ, स्याँम, गोपीनाथ और जदुकुल आदि शब्दोंका सुंदर प्रयोग, यथा—

"घोंधीके प्रभु 'लाजौ' न लागत, खीजैंगी सास-ननदिया।"

—घोंधीदास

"घरी-घरी 'स्याँम'—मुख हेरि-हरि हँसिबौ।"

—छीतस्वामी

"'गोपीनाथ' गुविंद, कन्हाई, जसुधा-सुत, हलधर के भाई।"

—लालदास

"हरि रुकमिनी लिएँ आवत हैं, इहि आनँद 'जदुकुल' हि सुनाबौ।"

—सूरदास

श्रीसूरदासजी कहते हैं—

"'काहे' गोपीनाथ कहावत।
जौपै मधुर, हरि हित् हमारे, काहे न गोकुल आवत॥
सपने की पहिचाँनि जीय महिं, हमहिं कलंक लगावत।
जो परि कृष्ण कुबरी रीझे, सो किनि नाम धरावत॥
ज्यों गजराज काज के औसर, औरें दसन दिखावत।
ऐसें हम कहिबे-सुनिबे कों, 'सूर' अँनत बिरमावत॥"

अथवा—

"सुनि-सुनि ऊधौ, आवत हाँसी।
कहाँ वे ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कंस की दासी॥
इंद्रादिक की कौंन चलावै, संकर करत खवासी।
निगम आदि बंदीजन जाके, सेस सीस के बासी॥
जाकें कमला रहत निरंतर, कौंन गनें कुबजामी।
'सूरदास' प्रभु दृढ़ करि बाँधे, प्रेम-पुंजि की···पासी॥"

—सूर

कोई कवि कहता है—

'जो मथुरा हरि जाइ बसे, हमरे जिय प्रीति बनी रही सोऊ।
ऊधौ, बड़ौ सुख यैहू हमें, बरु नीकें रहें वह मूरत दोऊ॥
हमरे हि नाँम की छाप परी, कछु अंतर बीच अहै नहिं होऊ।
राधिका-कृष्ण सभी तौ कहें, पै कूबरी-कृष्ण कहें नहिं कोऊ॥'

—रागरत्नाकर

खानजी कहते हैं—

'जानें कहा हम मूढ़ सबै, समुझी न तबै अबहीं बनि आई।
सोचत हैं मन-हिं-मनमें, अब कीजै कहा बतियाँ जगबाई॥

नीचौ भयौ ब्रज कौ सब सीस, मलीन भई 'रसखाँन' दुहाई ।
चेरी कौ चेटक देखहु री, हरि चेरो कियौ धौं कहा पढ़ि आई ॥'
—सुजान रसखान

कविवर आलम कहते हैं—

'वे तौ ऊधौ, परम पुनीत पुन्न पाइयतु,
भावन प्रवीन प्यारे पावन दरस जू ।
गाँव की अहीरी हम गोबर की बास भरीं,
खरिऐ गँवारि गुन रूप ही न रस जू ॥
कहै 'कवि आलम' बिराजति वै राजा कान्ह,
राजनि के राजा गुन पूरन दरस जू ।
बिसर्‍यौ बसेरौ बन-बीथी अरु ब्रज बासी,
अति मन-भाई पाई कुबजा सरस जू ॥'
—आलम केलि

रसलीन कहते हैं—

'जो दासी के बस भयौ, जग कहाइ ब्रज-राज ।
तिन की ए बतियाँ कहत, तुम्हें न आवत लाज ॥'
—रसप्रबोध

पद्माकर कहते हैं—

'आवत उसासी, दुख लगै अरु हाँसी, सुनि,
दासी-उर लाइ कहौ को नहिं दहा कियौ ।
कहै 'पद्माकर' हमारे जाँन ऊधौ उन-
तात कौ, न मात कौ, न भ्रात कौ कहा कियौ ॥
कंगलिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी,
चेटकनि चेरी ताके चित कौ चहा कियौ ।
राधिका की कहिवत कहि दीजौ मनमोहन सौं,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियौ ॥'
—जगद्विनोद

मधुकारी, वधकारी, घात आदि शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

मधुकर वृथाँ बने 'मधुकारी।' —अनन्य अली

'या सराप तें भए स्यामघन, प्रेमिनि के 'वधकारी' ॥'

—भानदास

'डोलत 'घात' करत या ब्रज में, वा मधुकर वै रीति।'

—लोकनायक

कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

'मधुकर, भले आए बीर।
परम दुरलभ सुलभ पाए, जाँनि हौ पर पीर ॥
कहत बचन बिचारि बिनतीं, सोधि हौं मन-माँहि।
प्रॉनपति की प्रीति कहु कहु, है कि हमकों नाँहि ॥
कौंन तुमसों कहै मधुकर, कहन जोग जु नाँहि।
प्रीति की बहु रीति न्यारी, जाँनिहौ मन-माँहि ॥
नैंन-नींद न परै निसि-दिन, बिरह-दाहौ देह।
कठिन निरदै नंद कौ सुत, जोरि तोरी नेह ॥
कौंन तुमसों कहै मधुकर, गुन-प्रघट सु बात।
'सूर' के प्रभु क्यों बनैं जो करै अबला-घात ॥'

अथवा—

'मधुकर, रहि जोग की बात।
कहि-कहि कथा स्यॉमसुंदर की, सीतल करि सब गात ॥
मेद निरगुन गुन-हीन गनैंगी, सुनि सुंदर अकुलात।
दीरघ नदी नाउ कागद की, को देख्यौ चढ़ि जात ॥
हम तन-चितै हेरि अपनौं पर, देखि घमरी स्यात।
'सूरजदास' रूप-गुन-बसिकैं, कैसें बलकर बिरात ॥'

— सूरदास

घनानंदजी कहते हैं—

'अधिक-बधिक तें सुजान रीति राखी है,
कपट-सुगी है फिरि निपट करी बुरी।
गुननि-पकरि लै निपात करि छोरि देहु,
मरहि न जीव महा विषम दया छुरी॥
हौं न जानौं कौन धौं है यामें सिद्धि स्वारथ की-
लखी क्यों परति प्यारे, अंतर-कथा दुरी।
कैसें आसा-द्रुम पै बसेरो करें प्रान-खग,
बनक निकाई 'घनआनँद' नई जुरी॥'

—सुजानहित

रसनिधिजी कहते हैं—

'रसनिधि' कारे कान्ह वे, रहे मधुपुरी छाइ।
विष उगलत ऊधौ फिरै, अचरज कछि इहि आइ॥'

—रतनहजारा

भारतेन्दुजी कहते हैं—

'ऊधौ जू, सूधौ गहौ वह मारग, स्याँम की तेरे जहाँ गुदरी है।
कोऊ नहिं सिख माँनिहैं ह्याँ, इक स्याँम की प्रीति प्रतीत खरी है॥
ए ब्रजबाला सबै इक सी, 'हरिचंद' जू मंडिली ही बिगरी है।
एकु जौ होइ तौ स्याँन सिखाइऐ, कूप-ही में यहाँ भाँग परी है॥'

—प्रेममाधुरी

ीमजी कहते हैं—

'अमृत ऐसे बचन में, 'रहिमन' रिस की गाँस।
जैसें मिसिरी में मिली, निरस बाँस की फाँस॥'

—रहीम रत्न

४९

सिंसिनि—कटि, कमरका आभूषण विशेष, करधनी, क्षुद्रघंटिका, किंकिणी।

'किंकिणी' क्षुद्रघण्टिका।'

—अमरकोष २। ६। ११०

या पुर—उस पुर, नगर, स्थानमें। गोरस—दूध-दही इत्यादि। अथवा इन्द्रिय-रस।

किंकिनि, या पुर, और गोरस शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'कटि में बजति सु 'किंकिनि, रुन-झुन, छवि बरनत नहिं आवै।

—चतुर्भुजदास

---

१. अथवा—किञ्चित् किणं शब्दान् करोतीति किंकिणी।

२. इस शब्दके सुंदर अर्थमें वियोगी हरिजीसे लेकर सभी सम्मान्य सम्पादकोंने बड़ी गड़बड़ी मचायी है। किसीने तो इस शब्दका अर्थ—बारबार किया है और किसीने बापुर या बापुरो मान, अर्थ—बिचारा, बेचारा किया है। मालूम होता है इन महानुभावोंने श्रीनन्ददासजी इसी पदकी निम्न पंक्ति—आगे आनेवाली या आगेवाली—

'फिरि आयो या देस'

पर ध्यान नहीं दिया है, नहीं तो ऐसा अनर्थ कभी न करते। ये पंक्तियाँ स्पष्ट ही उस अर्थका प्रतिपादन कर रही कि—उस पुरका-ग्रामका, नगरका गोरस (दूध-दही) चुराकर फिरि, पुनः इस देश आया। श्रीनंददासजी-के उक्त पदांशमें 'फिरि' शब्दसे कुछ मधुर ध्वनि इसी बातकी पुष्टिके अर्थ, इसी अर्थको और भी उज्ज्वल बनानेवाली और भी निकलती है। अर्थात्—'फिरि, या देस आयो' यानी पहिले तो यहाँसे चुरा चुराकर जैसे-तैसे गया था पर यहाँ भी चोरीचारी कर फिर कामिन बड़ी निर्दय कर्म करनेके निमित्त आया आदि आदि।

'वा पुर' बास बसाइ यहाँ धौं कौंन काज तुम आ

—

"हमारें 'गोरस'-हाँनि न होइ।"

—चतुर

सूरदासजी कहते हैं—

"मधुप, तुम कहौ कहाँ ते आए।
जाँनति हैं अनुमाँनि आपने, तुम जदुनाँथ पठाए॥
वैसेहि बरन, बसन तन वैसेहि, वैसेहि भूषन सजिबजि ल्याए।
लै सरबसु सँग स्याँम सिधारे, अब का पै पहिराए॥
अहो मधुप, एकै मन सबको सु तौ उहाँ लै धाए।
अब ह्याँ कौंन सयाँन बहुरि ब्रज, जा कारन उडि धाए॥
मधुबन की मानिनी मनोहर, तहीं जाहु जहँ भाए।
'सूर' जहाँ लौं स्याँम-गात हौ, जानि भले करि पाए॥"

—सूर

श्रीनंददासजीके उक्त भावपर श्रीसूरका एक पद और देखि

जैसे—

"भूलति हौ कित मीठी बातँन।
ए तौ अलि, उनहीं के संगी, चंचल-चित्त साँवरे-गातँन।
वै मुरली-धुँनि जग-मन मोहत, इनकी गुंज सुमन मधु-पातँन।
ए षट्-पद, वे द्विपद चतुरभुज, काहू भाँति भेद नहिं भाँतन॥
वे नव निसि माँनिनि-गृह बासी, एहू बसत निसि नव जल्जातँन।
वे उठि प्रात अँनत मन-रंजन, ए उडि करत अँनत रस-रातँन॥
स्वारथ-निपुन मधु-रस-भोगी, जिनि पतियाहु बिरह-दुख-घातँन।
वे माधव, ए मधुप 'सूर' कहि, दुहुँ नहिं कोउ घट बातँन॥"

—सूरदा

श्रीनंददासजीके इस भावपर स्वर्गीय सत्यनारायणजीकी बड़ी सुंदर रचना है, आप भ्रमर और भगवान् श्रीकृष्णकी तुलना, बराबरी करते हुए, समानता दिखलाते हुए कहते हैं—

> "तेरो मन घनस्याँम, स्याँम घनस्याँम उतै सुनि।
> तेरी गुंजन मुरलि, मधुप, उत मधुर मुरलि-धुनि॥
> पीत-रेख तव कटि बसै, उत पीतांबर चारु।
> बिपिन-बिहारी दोउ लसत, एकै रूप सिंगारु॥"
>
> —जुगलरस के रचना।

५०

कपट—छल, प्रतारणा, धूर्तता, अयथार्थ-व्यवहार, शठता, दंभ, धोखा।

> "कपटोऽस्त्री व्याजदंभोपधयश्छद्मकैतवे।"
>
> —अमरकोश १। ७। ३०

ब्रज बासिनी—ब्रजकी बसनेवाली, रहनेवाली, *पतियाइ*—एतबार, विश्वास, प्रतीति, धारणा, भरोसा। *लहे*—लिए, लिये।

कपट, ब्रज-बासिनी, पतियाइ और लहे शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

> "हम सौं 'कपट' औरनि के बस भए, हमारी मरन तिहारौ ख्याल।"
>
> —सूरदास
>
> "मोहूं सब 'ब्रज-बासिनी' हो—नंद महेरी के धाम।" —चतुर्भुजदास
>
> "लाख सौंह खाओ मनमोहन, अब न नेकु 'पतियाइ'।" —ब्रजदास ●

● प्रसिद्ध महाराज धीरचन्द्रका उपनाम 'ब्रज' था, जिसका कि आप कवितामें प्रयोग करते थे। इसी प्रकार आपका उपनाम 'ब्रजदास' भी मिलता है, इसका प्रयोग भी प्रायः पद साहित्यमें हुआ है। इस नामके पद 'कीर्तन कुसुमाकर' 'कीर्तन-रत्नाकर' 'नित्य-कीर्तन' और 'रागरत्नाकर' में बहुत मिलते हैं तथा वल्लभ संप्रदायके मंदिरोंमें गाये जाते हैं।

"मधुप, 'कहे' हम जानि गुमानी, कत तू करत बड़ाई।" —चन्द्र

कुछ ऐसा ही सुमधुर भाव भागवतमें भी कहा है, जैसे—

"विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुंदात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका,
व्यसृजदकृतचेताः किंनु संधेयमस्मिन्॥"

—श्रीभागवत १०।४...

अर्थात्—

"तज पद, हर, आनें थो कृतघ्नी बड़ी तू,
कपट-विनय सीखी दूतता कृष्ण सों तू।
पति, सुत, घर छाँड़े आसु दासी कहाँई,
उन हमहिं तजी हा, क्यों मिलें ताहि जाई॥"

—कन्हैयालाल पोद्दार

श्रीसूर कहते हैं—

"मधुकर, हमहीं क्यों समुझावत।
बारंबार ग्यान-गीता ब्रज, अबलनि-आगें गावत॥
नंद-नँदन-बिनु कपट-कथा ए, कत कहि रुचि उपजावत।
सक-चंदन जो अंग सुधा-रस, कहि कैसें सुख पावत॥
देखि-बिचारि तुही जिय अपने, नागर हौ जु कहावत।
सब सुमनन पै फिरत निरखि करि, काहे कँमल-बँधावत॥
चरन-कँमलकर, नैंन-कँमलकर, बदन-कँमल बरभावत।
'सूरदास' प्रभु अलि अनुरागी, किहि बिधि हौ अनुरागत॥"

—सूरदास

गुसाँईं तुलसीदासजी कहते हैं—

"हृदै कपट बरबेस धरि, बचन कहै गढ़ि-छोलि।
अबके लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिए मन-खोलि॥"

"हँसनि-मिलनि-बोलनि-मधुर, कटु करतब मन-माँहिं।
छुवत जो सकुचै सुमति सो, 'तुलसी' तिनकी छाँहिं॥"

—साखीसंग्रह

बाई मीरा कहती हैं—

"आवो हरि, निरमोहिड़ा रे, जाणी थारी प्रीति।
लगन लगी जब और प्रीति छी, अब कुछ अँवली रीति॥
अमृत प्याइ विषै क्यूँ दीजे, कूण गाँव री रीति।
'मीराँ' के प्रभु गिरिधर नागर, आप गरज रा मीति॥

—शब्दसंग्रह

५१

मति-मंद—मंद-बुद्धि, कम-अक्ल, मूर्ख। छंद—जाल, ढंग, अभिप्राय, मकर, व्याज।

"..........अभिप्रायश्छंद आशयः।"

—अमरकोश ३।२।२०

तथा—

"अभिप्रायवशौ छंदौ........।"

—अमरकोश ३।३।८८

मतिमंद और छंद शब्दके सरस प्रयोग। यथा—

"अजहुँ चले 'मतिमंद' यहाँ तें, लै सिर-जोग-पिटारी।"

—सूरदास

"हम जानति 'छल-छंद' तिहारो, क्यों बातन बौरावत।"

—कृष्णदास

श्रीसूर कहते हैं—

"मधुकर, काके मीति भए।
त्यागें फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भोरें लए॥
छिनकु बिछुरि कँमल-रति मानी, केतकि कत बिधए।
छाँड्यु नेह नाहिं मैं जान्यों, है गुन प्रघट नए॥
नूतन करम, तँमाल, बकुल, बट, परसत जनम गए।
मुज-मरि मिलति उड़ति उदास है, गन स्वारम स—
भटकत फिरत पात, द्रुम, बेलिनि, कुसुम, करंज म
'सूर' बिमुख पद-अंबुज छाँड़े, बिरै निबिरचर छए

अथवा—

"मधुकर, काके मीति भए।
दिवस चारि करि प्रीति-सगाई, रस-लै अँनत गए॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखँड अग्र दए।
चाँड़ सरें पहिचाँनति नाहीं, पीतम करत नए॥
मुड़ऊँ बाँटि मेलि बौराए, मनहरि हरिलु लए।
'सूरदास'प्रभु दूत धरम हिंग, दुख के बीज बए॥"

अथवा—

"मधुकर, बादि बचन कत बोलै।
आपुन चपल, चपल कौ संगी, चपल चहूँ दिसि डोलै॥
इन बातन कों कौंन पत्यै है, अंतर कपट न खोलै।
कंचन-काँच-कपूर-कटुखरी, एकु संग क्यों तोलै॥
अब अपनी-सी हमहिं दिखावत, मति भूलहु इहि ओलै।
'सूर' स्याँम-बिनु रटत बिरहनी, बिरह-दाग अनि छोलै॥"

एक और—

"मधुकर, तुम रस-लंपट लोग।
कँमल-कोस नित रहत निरंतर, हमहिं सिखावत जोग॥
अपने काज फिरत बन-अंतर, निमिष नहीं अकुलात।
पुहुप गएँ बहुरौ बल्लिन के नैंकु निकट नहिं जात॥
तुम चंचल अरु चोर सकल अँग, बातन को पतियात।
'सूर' विधाता धन्य रचे इहि मधुप, साँवरे-गात॥"

—सूरसागर

५२

अवलों—अबतक। *बिसेख्यौ*—बिसेखना, विशेष प्रकारसे वर्णन किया, ब्यौरेवार वर्णन किया, निर्णय किया, निश्चित किया। *सीर*—सींग, शृंग। *रसिकता*—रसिकपना, रसज्ञता, सहृदयता।

अवलों, बिसेख्यौ, सिंग और रसिकता आदि शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"दान दियौ 'अवलौं' न महीको, आजु भई पै होत।"

—रामदास

"देख्यौ मोंहि 'बिसेख्यौ' ब्रज में, कपट चतुरई मानी।"

—[illegible]

"साजत सींग सु माथे ऊपर अद्भुत रूप बनायौ।"

—[illegible]

"'रसिकता' मोहन तुम्हरी हेरी।"

—[illegible]

श्रीसूर कहते हैं—

"मधुकर, आहि कहौ सुनि मेरौ।
पीत-बसन तन-स्याँम जाल की, रातत परदा तेरौ॥
इहि ब्रज कौं उपदेसँन आए, कत जो रहे करि डेरौ।
एते माँन इहि सखी, महासठ, छाँड़त नाहिन सेरौ॥
ऐसी बात कहौ तुम तिन सौं, होइ जो कहिबे लाइक।
इहाँ जसोदा कुँअर हमारे, छिन-छिन प्रति सुखदाइक॥
ज्यों तू पुहुप-पराग छाँड़ि कैं, करहि ग्राम बसिबास।
तौ हम 'सूर' इहै करि देखें, निमिष न छाँड़े पास॥

—१

अथवा—

"मधुकर, जाउ जहाँ तैं आए।
आँनि लई सब कपट चतुरई, ब्रज ब्रजनाथ पठाए॥
जैसेई गुरू सिष्य हौ तैसेइ, बड़े भाग सौं पाए।
प्रिय 'नवनीति' प्रीति बेलिन पै, जोग-अगिनि बरसाए॥"

—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

५३

तरक-वितरकँन—अनिश्चित सिद्धान्तको निश्चित करनेके लिये विवाद, शंका-समाधान, संदेह-निवृत्तिके उपाय, वाद-विवाद, सोच-विचार। अतीत—भूत, गत, अतिक्रांत, बीता हुआ।

तरक-वितरकँन और अतीत शब्दके सुन्दर प्रयोग। यथा—

"तरक बितरकनि मिलैं न नैंकौ केतोई तरि मथाओ।"

—

"वह 'अतीत' निरगुन, निरमोही, काय-कौन नहिं लागौ।"

—

५४

चतुरंगी—प्रवीण, दक्ष, चतुर, चालाक, सब बातोंमें होशियार, छल-कपटयुक्त, छल-कपटमें प्रवीण। मुरारि—मुरारी, भगवान् श्रीकृष्ण-का नाम विशेष जो कि 'मुर' नामक दैत्य विशेषके मारनेसे पड़ा था। त्रिभंगी—तीन जगह, स्थानसे टेढ़, तीन स्थानसे टेढ़ा होकर खड़े होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण।

चतुरंगी, मुरारि और त्रिभंगी शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'मथुरा जाइ भए 'चतुरंगी', बातन के ब्योहार।'

—चरनदास

'तुम बिनु मरत हाइ, 'मुरारि'।'

—परमानंददास

'ललित त्रिभंगी' लखि वह मूरति, को न बिकै बिनु दाँम।'

—कृष्णदास

कुछ ऐसा ही भाव श्रीसूरने भी व्यक्त किया है—

'आए माई, दुरँग स्याँम के संगी।
जे पहिलैं रँग रँगे स्याँम-रँग, तिनही की बुधि रंगी॥
हमसौं उनकी-सी मिलवत हमैं, तातैं भए बिहंगी।
सूधी कहै सबन समुझावत, ते साँचे सरबंगी॥
औरनु की सरबसु लै मारत, आपुन भए अभंगी।
'सूर' सु नाम सिन्धोगुन पीवै, जे मन-क्रम सरंगी॥'

अथवा—

'मधुकर' उनकी बात हम जानी।
कोउ दुती कंसकी दासी, कृपा करी भई रानी॥
कुबजा नाम मधुपुरी बैठि, लै नृपताम मन-मानी।
कुटिल, कुचील जनम की टेढ़ी, सुंदरि करि घर आनी॥

अब वो नवलबधू है बैठी, ब्रज की कहत कहाँनो।
'सूर' स्याँम अब कैसें पैऐ, जासों मिली सयाँनी॥'

एक और—

'बर, उन कुबजा भलौ कियौ।
सुनि-सुनि समाचार ए मधुकर, अधिक जुड़ात हियौ॥
जाकौ हरि मन हरयौ रूप करि, हरयौ सु पुनि न दियौ।
तिन अपनौं मन हरत न जान्यौं, हँसि-हँसि लोग जियौ॥
और सकल नागरि-नारिन कौ, दासी दाव लियौ।
'सूर' तनक चंदन-चढ़ाइ उर, श्री सरबसु सु पियौ॥'

—सूरदास

परम रसिक रसखाँनजी कहते हैं—

'रसखाँनि' यहै सुनि कें गुन कें, हियरा मन-टूक है फाटि गयौ है।
जानति हैं न कछू हम ह्याँ, उन वाँ पढ़ि मंत्र कहा धौं कियौ है॥
साची कहैं जिय में जिन आँनि कें जाँनत ही जस कै सौ लियौ है
लोग-लुगाइं कहैं ब्रज-माँहि, अहो हरि चेरी कौ चेरौ भयौ है।

—सुजानरसखान

कविवर पद्माकरजी कहते हैं—

'सोच ना हमारे कछू त्यागें मनमोहन के-
तन कौ न सोच जौपै योंही जर जाइ है।
कहै 'पद्माकर' न सोच अब एहू हरे-
आइ है तो आइ है, न आइ है, न आइ है॥
जोग कौ न सोच अरु भोग कौ न सोच कछू,
वैहि बड़ी सोच सो तो सबनि गुराइ है।
कूबरी के कूबर में बेध्यौ है त्रिभंग ता-
त्रिभंग कौं त्रिभंगी काक कैसें गुराइ है॥'

अथवा—

'जैसे कौं तैसौ मिलै, तबहीं जुरत सनेह।
ज्यौं त्रिभंग तन स्याँम कौ, कुटिल कूबरी देह॥'

—जगद्विनोद

और—

गेह ना सुहात, हमें मेह से झरैं हौं नैन,
स्याँम के सँनेह देह-दसा भई दूबरी।
वे तौ बनवासी ग्वार नंद के कुँमार सखी,
वौ तौ कंस-दासी बनी खासी महबूबरी॥
तौ हैं त्रिभंगी अरु वाके अंग कूबर में,
मिले हैं उमंग दोऊ संग बन्यौं खूबरी।
हैं सयाँनी, अरु आँनी कोऊ चेटक सौं,
स्याँम बने राजा अरु रानी बनी कूबरी॥'

'चंदन लगाइ नँद-नंदन कौं फंद डारि,
भेद मुसिकाइ कछु कीन्ही यौं ठगोरी है।
आली, प्रीतिपाली उन गनी न कुचाली कहूँ-
वे तौ बनमाली, वह मालिनी की किसोरी है॥
जैसे हैं कपटी कान्ह, तैसी छली वाहू जानि,
हरयौ हिय हाथ ही में बाँधि प्रीति-डोरी है।
करी अरधंगी निज कुबजै त्रिभंगी स्याँम,
वे अहीर, दासी यह, खासी बनी जोरी है॥'

—दमार

५५

जोगी—योगी, योगसाधक, तपस्वी, आत्मज्ञानी, जो भले-बुरे और दुःख-सुख समान समझता हो, जिसमें न तो किसीके प्रति

मधुवन—व्रज-भूमिका वनविशेष, जो मथुरा नगरके पास तीन मील है, मथुरा नगरको भी मधुवन कहा जाता है। गाहक—ग्राहक खरीदनेवाला, चाहनेवाला। रावरे—महाराज, सरकार, आप।

जोगी, कुबजा, मेला, मधुवन, गाहक और रावरे आदि सरस शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

'जोगी' होइ सो जोग बखानें।'

—सूरदास

'नए गुपाल नारि नई 'कुबजा' नौतम नेह ठयौ॥'

—परमानददास

'भलौ कियौ इंद्रिन कों 'मेला' मथुरा तीरथ न्हाइ।४'

—व्यासजी

'मधुबन' जाहि कान्ह कुबजा-सँग, मति भूलहुँ सुधि सातौ॥'

—सूरदास

'कंथा, सेली, भसँम औ माला, 'इनकौ गाहक' नाहिं।'

—व्यासजी

'जाहु-जाहु 'रावरे' इहाँ ... ॥'

—गोपालदास

इन ऐसी ही मधुर बात ...

॥

।

॥

॥'३

[illegible] —

"ऊधौ, तुम ब्रज दूरि करौ।
लै आए हौ नफा जानि कै, सबै वस्तु अकरी॥
हम अहीरि मोहन-मनि बेचैं, सबन टेक पकरी।
इह निरगुन अनमोल की गठरी, अब किन करन धरी॥
इहि ब्योपार बड़ी जु भँमानो, दुनी बड़ो मगरी।
'सूरदास' गाहक नहिं कोऊ, दिखरनु गरें परी॥"

एक और—

'जोग-ठगौरी, ब्रज न बिकै है।
मूरी के पातन के बदलैं, को मुक्ताहल दैहै॥
यै ब्यौपार तिहारो ऊधौ, यौं ही धरयौ रहि जैहै।
जिन पै तें लै आए ऊधौ, तिनही पेट समैहै॥
दाख छाँड़ि कैं कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै।
गुन करि मोही 'सूर' साँवरे, को निरगुन निरबैहै॥ —सूरसागर

श्रीनागरीदास कहते हैं—

'ऊधौ, वृथा करत बकवाद।
हम आँख्यों तुम आँनति नाहीं, रूप-सुधा-सुख-स्वाद॥
सकल ब्रज मोहन-मई है, गोप, गोपी, गाइ।
तिनैं तौ बिनु स्याँम-सुंदर, और नाहिं सुहाइ॥
तन हमारो खंड-खंड करि, देहु भूमि मैं डारि।
न्यारे-न्यारे लिपटि जैहैं, लखि नागर नंद कुमार॥*

—नागरसमु

* यही बात श्रीसूरने भी कही है, जैसे—

'यह तन जो कोऊ फिरि बनावै।
तऊ नंद-नंदन तजि प्यारो, और न मन में आवै॥

रहीमजी कहते हैं—

'कहा कॉन्ह तें कहिनौं, सब जग साखि।
कौन होत काहू कौ, कुबरी राखि॥'

—रहीमरत्नावली

ग्वाल कवि कहते हैं—

'तजि ब्रज-बालनि कौं मथुरा गयौ-तो-गयौ,
वहाँ जाइ कौन सौ सुजस जग-छायौ है।
करतो बिवाह जाति-पाँतिकी कुँमारी-सँग,
तऊ हम जाँनती सुपंथ में सिधायौ है॥
'ग्वालकवि' जौ पै सुरत ही पै रीझि हुती,
सौ पै भली जाति की न नारी पै लुभायौ है।
कूबरी कलंकिनि या अंकिनि कौं अंक लाइ,
कॉन्ह भलौ कुल कौं कलंक तें लगायौ है॥'

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"जाहु जू, जाहु जू, दूरि हटौ, सौ थकै बिनु बात ही को अब बासों
या छलियानें बनाइ कैं खासौ, पठायौ है याहि न जानें कहाँ सों॥
काहि करै उपदेस खरौ 'हरिचंद' कहैं किन जाइकैं तासौं।
सो बनि पंडित ग्यॉन-सिखावति, कूबरी 'हूँ नहिं ऊबरी जासौं॥"

—प्रेममाधुरी

जो या तनकी तुचा काढि कैं, लैकरि दुंदुभि सजई।
मधुर उतंग सबद सुर निकसै, लाल, लाल ही बजई॥
छूटै मान मिलै तन माँटी, द्रुम लागैं तिहि ठाँम।
कह अरु भूर' फूल-फल-साखा, लेति उठैं हरिनाँम॥'

—सूरसागर

साधु, सिद्ध और भेंटि शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

"इन लच्छन सौं साधु जनावत, केहियतु बेद-पुरान।"
—चरनदास

"सिद्ध, देव, गँनधरब आदि लै, फूलन बरखा कीनी।"
—कुंभनदास

"'भेंटि' गोप सब नंदबबा सौं, निज-निज घर जु पधारे।"
परमानंददास

कुछ ऐसी ही बात उद्धव-प्रति गोपियोंसे श्रीसूरने भी कहलायी है, जैसे—

"सब खोटे मधुबनके लोग।
जिनके संग स्याम-सुंदर पिय, सीखे हैं उपजोग॥
भली करी ऊधौ, ब्रज आए, दुखियन कौं लै जोग।
आसन ध्यान नैन-मूँदे सँ, कैसे जात बियोग॥
तुमहिं उनहिं ये भली बनि आई कुबजा सौं संजोग।
'सूर' सुबैद कहा लै कीजै, कहै न जानैं रोग॥"

अथवा—

"मधुबन, सब कृतग्य धरमीले।
अति उदार, पर-हित डोलत हैं, बोलत बचन रसीले॥
प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत, लै मधु-रिपुहिं सिधारे।
वहाँ कंस, इहाँ हम दीनन कौं, दोनौं काज सँवारे॥
हरि कौं सिखै, सिखावन हम कौं, अब ऊधौ पग धारे।
वहाँ दासी की रति-कीरति कै, यहाँ जोग बिस्तारे॥
अब तिहिं बिरह-समुद्र सबै हम बूड़त चहत कहीं।
ऐसा मनुष नाव हीं सुनि-सुनि, तिहि अवलंब रहीं॥
अब निरगुनहिं गहैं जुबती जन, ताहिं कहाँ गईं कौ।
'सूर' मधुप षट्पद के मनमें, नाहिन त्रास दई कौ॥"

अथवा—

"अब नींद कै आनि परी!
जिनि लगि हुती बहुत उर-आसा, सोउ बात निवरी॥
वै सुफलक-सुत, ए सखि ऊधौ, मिली एक परिपाटी।
उन सौं वह कीनीं तब हम सौं, ए रतन छुड़ाइ गहावत माँटी॥
ऊपर मृदु, भीतर तें कुलिस-सम देखति के अति भोरे।
ओई-जोई आवत वा मथुरा सों, एक डारि से तोरैं॥
यहै सखी, पहिलैं कहि राखी, असित न अपने होहीं।
'सूर' काटि जौ माँथौ दीजै चलत आपने गोंहीं॥"

एक और—

"तब तें बहुरि दरस नहिं दीन्हौं।
ऊधौ, हरि मथुरा कुबजा-घर, यहै नेम-व्रत लीन्हौं॥
चारि मास, बरखा के लीन्हें, मुनिहूँ रहत इक ठौर।
दासी-धाँम पवित्र जानिकैं, नहिं देखत उठि और॥
ब्रज-बासी सब ग्वाल कहत हैं, कित ब्रज छाँड़ि गए।
'सूर' सगुन ही जात मधुपुरी, निरगुन नाँम भए॥

बाई मीरा कहती हैं—

"हो गए स्याँम, दूज रा चंदा।
मधुबन जाइ भया मधुबनियाँ, हमपर डारा प्रेम रा फंदा॥
मारी-बिरह जरै जी सारा, पीर न जानत नागर नंदा।
'मीरा'के प्रभु गिरिधर नागर, अब तो नेह परा कछु मंदा॥"

—मीरा पदावली

५७

संथा—पाठ, सबक, एक बारमें पढ़नेवाला अंश, अथवा एक बार पढ़ाया जानेवाला अंश। चटसार—चटसार, पाठशाला, विद्यालय, अध्ययन-गृह।

संथा और चटसार शब्दोंके प्रयोग, यथा—

"पाँडे यह 'संथा' नहिं भूले।" —ब्रजवासीदास

"तिन के सँग 'चटसार' पठायौ,
राँम-नाँम सौं तिन चित लायौ।"

—सूरदास

श्रीसूर कहते हैं—

"ब्रज-जन सकल स्याँम-ब्रतधारी।
बिन गुपाल नहिं औंन उपासन, भजत कहूँ बिभचारी॥
जोग-मोट सिर भार बहन कौ कत ब्रज माँझ उतारी।
इनकि दूरि जाहु चलि कासी, जहाँ बिकात अति भारी॥
ऐसे ग्यानहिं कौंन सुनत है, मेंडकी अनन्य हँमारी।
जो प्रभु यह रस-रीति उपदेसी, सो क्यों आन-बिचारी॥
इहाँ मुकति कोऊ नहिं परसत, जदपि पदारथ चारी।
'सूरदास' प्रभु जुवति बृंद बर, दरसन की जु भिखारी॥"

"ऊधौ, सूधें नैंक निहारौ।
हम अबलन कौं सिखवन आए, सुन्यौ सयौंन तिहारौ॥
निरगुन कही कहा कहियतु है, तुम्ह निरगुन अति भारी।
सेवत सगुन स्याँमसुंदर कौं, मुकुति लही हम चारी॥
सब सालोक, सरूप, सयुज्यौ, रहति समीप सदाई।
सो तजि कहति और की औरैं, ...॥
हम मूरख, तुम्ह बड़े चतुर हौ, ...।
वे ही काज फिरत ...॥
कहौ आयौ ...।
...॥

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"रहैं क्यों एक म्यान, असि दोइ।
जिन नैनन मैं हरि-रस छायौ, तिहि क्यों भावै कोइ॥
जा तन में रमि रह्यौ मनमोहन, तहाँ ग्यान क्यों आवै।
चाँहों जितनी बात प्रबोधौ, ह्याँ को जो पतियावै॥
अमृत-खाइ अब देखि इनारुन, को मूरख जो भूलै।
'हरीचंद' ब्रज तौ कदली-बन, काटौ तौ फिरि फूलै॥"

—प्रेम फुलवारी

कोई कवि कहता है—

"मिल्यौ आइ हरै-सिंधु साँवरौ सलौनौं रूप-
कीजिए उपाइ दाइ काढ़े बिन कढ़ै ना।
कहौ किनि मूढ़ हमें बूड़ प्रेम काँन्हर सौं,
है रह्यौ अरूढ़ औरु-और बूड़ बढ़ै ना॥
बाल-पन पाइ जु पढ़ायौ सो तौ आजहूँ पढ़ौ,
फेरि कोट करै सौ हू आँन कछु पढ़ै ना।
कहि बिन काँम कहौ जोग कौ प्रसंग ऊधौ,
स्याँम-रंग रँगौ ता पै और रंग चढ़ै ना॥

—हजारा

५८

परसि—स्पर्शकर, छूकर, ध्याकर, ध्यानकर
सर्प, साँप।

परसि और भुअंग शब्दके सुंदर
"परसि' न भंग

अथवा—

"सखी री, स्याँम सबै इकसार।
मीठे बचन सुहाए बोलत, अंतर-जारन-हार॥
भँवर, कुरंग, काँम औ कोकिल, कपटिन की चटसार।
कमल-नैंन मधुपुरी सिधारे, मिटि गए मंगलचार॥
सुनौ सखी री, दोष न काहू जो बिधि लिख्यौ लिलार।
इहि करतूत इनहिं की न्यौंई, पूरब बिबिधि-बिचार॥
उँमगी घटा नाँखि आवें, पावस प्रेंम की प्रीति अपार।
'सूरदास' सरिता, सर-पोखत, चातक करत पुकार॥"

एक और—

ऊधौ, कारे सबहि बुरे।
कारे की परतीति न कीजै, विष के बुझे छुरे॥
कारौ अंजन देति दृगनि में, तीखी सौंन धरे।
नाग-नाथ हरि बाहर आए, फन-फन निरत करे॥
कोइल के सुत कागा पाले, अपनोंई ग्यौंन धरे।
पंख लगे जब गए सुउड़िबे, अपने कौंम सरे।
'सूर' स्यौंम कारे मतवारे, कारे सौं काल डरे॥

ललितकिसोरीजी कहते हैं—

"मधुकर, मेरे ढिंग जिनि आइ।
तैं हरिजाई बंस कलंकी, सब फूलैंन बसि जाइ॥
कारे सबै कुटिल जग-जौंने, कपटी निपट लबार।
अमृत-पौंनि कर बिष उगलत हैं, अहि परतच्छ निहार॥
देखति चिकनी सुभग चमकती, रासत मंजु बनाइ।
कारी अनी बाँन की पैंनी, लगत पार ह्वै जाइ॥
कारी निसि चोरनु कौं प्यारी, औगुन भरी अनेक।
'ललितकिसोरी' प्रीति न करि हौं, कारे सौं यै टेक॥"

—लघुरसकलिका

कविवर रहीमजी कहते हैं—

"समझि मधुप, कोकिल की यै रस-रीति।
सुनहुँ स्याँम की सजनी, का परतीति॥"
"रहिमन' उजली प्रकृति कौं, नहीं नीच कौ संग।
करिया-बासन कर गहें, कारिख लागत अंग॥"
—रहीमरला

५९

अनुरागी—अनुरागयुक्त, अनुरक्त, प्रेमी, प्रेममें रँगे, प्रेम-मूर्ति
कौनें गुन धौं जाँनि—किस गुणको जानकर, तुम्हारे कौनसे वर्त
को जानकर। *पातकी*—पापी, अपराधी, दोषी, पातक करनेवा
कुकर्मी, बदकार, अधर्मी। *अलिंद*—भँवर, भ्रमर, भौंरा। *आरसी*—
मुँह देखनेका शीशा, आर्सी, दर्पण, आईना।

अनुरागी, पातकी, अलिंद और आरसी शब्दके सुंदर प्रयोग

"भए लाल, 'अनुरागी' अब तौ छबि बरनी नहिं जाइ।"
—गोविंदरा

"जाहु 'पातकी' अलि, अब ह्याँ ते, परसि न मोहिं सवाँरे।"
—चतुर्भुजदा

"कहु 'अलिंद' स्याम की बातें।" —सूरदास
"लै 'आरसी' लखौ मुख सुंदर, जहँ-तहँ पीक सुहाई।"
—सूरदासमदनमोहन

दीनदयालगिरि कहते हैं—

"श्री हित स्याँम बने छली, भली पीत-छबि गात।
भली कथा निसि नहिं चली, गह यौ बली बिधि तात॥"

गहयौ बली बिधि तात, बात वह जात रही है।
जो जन औरहिं छलै, निदाँन छलात वही है॥
बरनें 'दीनदयाल' मित्र-बिन जैहौं अब कित।
तब तौ रचे प्रपंचरूप, कहि कपटी श्री हित॥"

अन्योक्तिकल्पद्रुम

थता—

"मोहै मति सुमनौं मनौं, कहौं बार-हीं-बार।
महा छली है मधुप यह, कहा करै इतबार॥
कहा करै इतबार, बाहरें भीतर कारो।
गर्ने न ठौर-कुठौर, चपल भरमें दिसि चारौ॥
ऐ री मेरी बीर, लालची यह रस कौ है।
सुनि या की धुनि मंद, माधुरी तें अति मोहै॥"

—अनुरागबाग

६०

कवि-कथन

गुबिंद—गोविंद, भगवान् श्रीकृष्णका नाम-विशेष, विश्वको नेवाला, ज्ञानसिंधु।

"दैत्यारिः पुण्डरीकाक्षो 'गोविंदो' गरुडध्वजः।"

—अमरकोष १ । १ । १९

गोविंदो वासुदेवे स्यात्……।"

—मेदिनीकोष

गोविंद शब्दका एक मधुर अर्थ और भी है—

"गां भुवं धेनुं स्वर्गं वेदं वा अविदत्-विंदति सा गोविंदः।"

ना—

"गां विंदति इति गोविंदः।"

अर्थात् जिसे भगवान्‌की [illegible] जाने [illegible] [illegible] भी गया वह पुरुष—आदि पुरुष [illegible] [illegible] किया जाता है। यथा—

"गोभिरेव यतो वेद्यो गोविंदः समुदाहृतः।" —हरि°

अथवा वेद-वाणी और गो-भूमिको जाननेवाला गोविंद कहा जाता है, यथा—

"गां वेदलक्षणां वाणीं गोभूम्यादिकं वा वेत्तीति गोविंदः।" —[illegible]

जैसा कि—गोपालतापिनीमें प्रतिपादित है—

"तदुहोचुः कः कृष्णो गोविंदश्च कोऽसाविति गोपीजनवल्लभः कः, का स्वाहेति। तानुवाच ब्राह्मणः पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो गोपीजनविद्याकलाप-प्रेरकः। तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत्।"

भरतादि मुनिके मत-अनुसार 'गोविंद' शब्दका अर्थ—

"गां विंदता भगवता गोविंदेनामितौजसा।
वाराहरूपिणा चांतर्विक्षोभितजलाविलम्॥"

अथवा—

"विष्णुर्विक्रमणाद्देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते।
शाश्वतत्वादनंतश्च गोविंदो वेदनाद्गवाम्॥" —मह°

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें गोविंद शब्दका अर्थ लिखा है—

"युगे युगे प्रणष्टां गां विष्णो विंदसि तत्त्वतः।
गोविंदेति ततो नाम्ना प्रोच्यसे ऋषिभिस्तथा॥" —प्रा°

भृंग-संग्या—भृंगकी संज्ञाकर, भगवान् श्रीकृष्णको भृंग—भँवर, भ्रमर मानकर, नाम देकर। संज्ञा, यथा—

"संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना।"

—अमरकोष ३। ३। ३३

और भी जैसे—

"संज्ञा नामानि गायत्र्यां चेतनारवियोषितोः।
अर्थस्य सूचनायां च हस्ताद्यैरपि योषिति॥"

—मेदिनीकोष

लज्जा-लोपी—लज्जा-लोपकर, लज्जा छोड़कर त्यागकर, लज्जा-त्यागकर, शर्म त्यागकर, केसौ—केशव, भगवान् श्रीकृष्णका नाम, यथा—

"दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः"

—अमरकोष १। १। १८

केशव शब्दका अर्थ करते हुए—व्युत्पत्ति करते हुए आदि आचार्य महाराज कहते हैं—

"केशसंज्ञिता सूर्यादिसंक्रांता अंशवः तद्वत्तया केशवः।"

—वि० स० शां० भा० ८२

अर्थात् सूर्यादिके भीतर व्याप्त हुई किरणें केश कहलाती हैं, उनसे युक्त होनेके कारण भगवान् 'केशव' हैं, यथा—

"अंशवो ये प्रकाशंते नमते केशसंज्ञिताः।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः॥"*

—महा० शा० ३४१। ४८

---

* मेरी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे केश कहलाती हैं, इसलिये द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव' कहते हैं।

"प्रस्थानगमनसमये कुरु मंगलानि
किं रोदिषि प्रियतमे वद कारणं मे।
हे प्राणनाथ विरहानलजनित-
धूमेन परिगलितं मम लोचनाभ्याम्॥"
"मंगानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः
संतापयेत् प्रियतमो हृदि वर्तते यः।
इत्याशयाननविधुमुखी गलदश्रुबिन्दु-
धाराभिरुष्णमभिषिंचति हृत्प्रदेशम्॥"

हुई कहती है कि सखी, ऐसा—इतना रोज-ब-रोज क्यों रोती है—बहाना मुझे क्यों व्यर्थको बदनाम करती है। अरी, विरह-पीड़ासे अनभिज्ञ सत्यचित्तवाली, ये मेरी आँखोंमें आँसू नहीं हैं, अपितु कामाग्निने पिघल-पिघलकर हृदय पानी हो नेत्रोंके पाइप-द्वारा फिल्टर होकर बाहर निकल रहा है—आ रहा है। यही बात कविसम्राट् विहारीलालजीने अपनी सुमधुर भाषामें इस प्रकार कही है, जैसे—

"तच्यौ आँच अति विरह की, रह्यौ प्रेम-रस-भीजि।
नैननि के मग जल बहै, हियौ पसीजि-पसीजि॥"
—विहारी

१. "प्रदेश (दूसरे देश) गमनके समय पत्नीके रोनेपर पति पूँछता है कि हे प्रियतमे, मेरे प्रस्थान-समय—जानेके वक्त मंगलचार न कर रो रही हो—इसका क्या कारण है? यह बात सुनकर नायिका—प्रियतमा उत्तर देती हुई कहती है, प्राणनाथ, आपकी विरह-वह्नि (आग) से उठा हुआ धूआँ इन आँखोंमें लगा है जिसके कारण मेरी आँखोंसे आँसू निकल पड़े हैं और कुछ कारण नहीं है।"

२. "कांतकी—प्रियतमकी वियोग वह्नि (आग) मेरे अंगोंको भले ही जला दे, किंतु हृदय-प्रदेशस्थित प्रियतमको वह उत्ताप (भभका) न लगे, इस आशयसे वह चंद्रमुखी, धाराप्रवाह अश्रु-जल बरसाकर अपने हृदयको सींच रही है—भिगो रही है।"

"अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः।
अप्राप्य मानमंगे विगलाति लावण्यवारिपूर इव ॥[1]"

दो-चार उर्दू-साहित्यकी सूक्तियाँ देखिये, जैसे—

"तिफ़्ले-अश्क ऐसा गिरा, दामाने-मिज़गाँ छोड़कर।
फिर न उट्ठा कूचए, चाके-गिरेबाँ छोड़कर ॥[2]"

—जौक़

"फ़लक ने ख़ूब ख़िदमत ली, हमारे दीदये-तरसे।
कि हर आँसूने मुँ धोया, शबे-महताबे-हिज्राँका ॥[3]"

× × × ×

"मेरे अश्कों में हैं, या तेरे दंदाने-मुसफ़्फ़ा में।
गुहर की आब, हीरे की तजल्ली, नूर तारे का ॥[4]"

—दाग़

---

१. होमी गयी अग्निके धूँएसे घूमरिन आँखवाली उस सुलोचनाका–नायिकाका सौंदर्य-जल (आबदार पानी) शरीरमें प्रतिष्ठा (मान) न पाकर आँसुओंके बहाने झर रहा है—निकल रहा है।

२. तिफ़्ल (बालक) आँसू, मातृरूपी पलकोंका पल्ला त्यागकर ऐसे गिरे कि फिर उठाये न उठे।

३. आकाशने मेरे आर्द्र-आँसुओंसे समलंकृत नेत्रोंसे—आँखोंने ख़ूब सेवा ली, क्योंकि मित्रके विरहमें मैं रातभर रोया और अपनी आँखों के हर एक अश्रुकणसे विरहाधिरति चंद्रदेवका मुँ धोया किया। तभी तो वह अधिकाधिक उज्ज्वल होता जा रहा है।

४. तुझे अपनी दंत-पंक्तिकी सफ़ाईका बड़ा गुमान है—अभिमान है, पर यह तो बता कि मेरे आँसुओंसे बढ़कर क्या वे (दंतावली) साफ़ हैं। मोतीकी आभा, हीरेकी दमक और तारे-जैसा प्रकाश तेरे दाँतोंमें है, या मेरे आँसुओंमें।

'यहाँ तक गिरिया में रोए सहर तक ।
गली-कूँचे में पानी है कमर तक ॥'[1] —तजल्ली

'अश्क आँखों से पल नहीं थमता ।
क्या बला दिल-ही-दिल में आब हुआ ॥'[2] —सोज़

'मज़ा बरसात का देखो, तो आ बैठो इन आँखों में ।
शियाही है, सफ़ेदी है, सफ़क है अब्रे-बारॉ है ॥'[3]
—कोई शायर

६२

उद्धवकी प्रेम-दशाका वर्णन

गिलौन—ग्लानि, मानसिक व्यथा, निंदा, अरुचि, भ्रांति, चित्त-की शिथिलता या खिन्नता, रोग-निर्मुक्त, खेद । मनकी एक वृत्ति जिसमें अपने किसी कार्यकी बुराई या दोष आदि देखकर अनुत्साह, अरुचि और खिन्नता उत्पन्न होती है ।

---

१. मैं उसकी जुदाईमें—विरहमें यहाँतक रोया कि गली-कूचोंमें मेरे आँसुओंका पानी कमर-कमर हो गया ।

२. अर्थ स्पष्ट है ।

३. ओ निठुर प्रियतम, यदि बरसातका ... ही आनंद लेना है तो मेरी इन आँखोंमें आकर क्यों ... मेरी आँखोंमें वर्षा ऋतुमें रंजित घनघोर काली ... है, ... और पानीसे भरे पलकरूप ... यह दोहा ... ॥'

कै रति-केलि, सकेलि सुखै, कलि-केलिके भौंन तें बाहिर आई ।
रहि रही रति आँखिन में, मन में धौं कहा, तन में सिथिलाई ॥"

—जगद्विनोद

सिगरी—सिगरी, संपूर्ण, कुल, एकदम, सारी, समस्त। *निज-पात्र*—यथार्थ-अधिकारी, सच्ची-अधिकारिणी, खास अधिकारिणी, प्रधान पात्रिणी। *कृत-कृत*—कृत्य-कृत्य, सफलमनोरथ, कृत-कृत्य, कृतार्थ, धन्य, यथा—

"कृतं कृत्यं कर्त्तव्यं येन।"

अर्थात्, जिसका कार्य, काम समाप्त—खतम हो चुका हो, समाप्त कार्य। इस शब्दका प्रयोग प्रायः आदर, सम्मान और श्रद्धा सूचित करनेमें होता है।

मेटि मल ग्याँन कौ—ज्ञानका मैल मिटाकर, ज्ञानके मैलका नाश-कर, मैटिकर, धोकर। मल, यथा—

"मलोऽस्त्री पापविट् किट्टानि ·······।"

—अमरकोष ३ । ३ । १९७

"मलोऽस्त्री पापविट्किट्टे कृपणे त्वभिधेयवत्।"[1]

—मेदिनीकोष

सिगौंनि, सिगरी, निज-पात्र, कृत-कृत आदि शब्दोंका सुंदर प्रयोग, यथा—

---

१. मनुष्य शरीरमें बारह 'मल' का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"वसाशुक्रमसृग्मज्जा मूत्रं विट्कर्णत्वग्नखाः ।
श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते मला नृणाम् ॥"—मेदिनीकोष

"मरकत मिस्रीनि' मुकति ए काले, मधुकर, मौन रहौ ॥"

—निश्चल

"मोहन, 'मिसरी' जिमि कहाँ आगे।"

—चतुर्विहारील

"कहन कथा 'निज-पाद्य' आनि सुख, दै-दै मुदित सु मन मे

—र

"कृत-कृत' भए भेष यै लखि कैं, धन्य हमारे भाग।"

—मा

श्रीनंददासजीकी इस परम मधुर सूक्ति—"प्रेम-वि देखि सुद्धि अति मति प्रकासी, दुविधा, ग्यान, मिस्रानि मंदता वि नासी" पर पद्मपुराणकी एक सूक्ति स्मरण हो आयी है, जैसे—

> "भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
> सत्संगमेव लभते पुरुषो यदा वै।
> अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
> नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥"
>
> —पद्मपुराण ६। ११०। ५

अर्थात्, जब बहुत जन्मके पुण्य-पुंजसे भाग्योदय होनेपर सत्संगकी प्राप्ति होती है, तब अज्ञानकृत मोह और मदरूप अंधका का नाश हो विवेक (सूर्य) उदय होता है।

६३

उद्धवका अपने प्रति कथन

मरँम—मर्म, रहस्य, भेद, अभिप्राय, आशय, स्वरूप, तत्व।
मरजाद—मर्याद, रीति, प्रतिष्ठा, मान, नियम, पत, परिपाटी, विधि

"मर्यादा धारणा स्थितिः।"

—अमरकोष २। ८। २६

रोप—निरोप, निरूपण कर, विवेचन कर, स्थिर कर, निर्णय कर, वितर्क कर, प्रकाशकर, विवेचनापूर्वक निर्णय कर।

"आलोकः विचारः निदर्शनम्।"

—मेदिनीकोष

निरूपण शब्दके लिये महाभारतमें लिखा है—

"प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम्।
दैवेन विधिना युक्ता शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः॥"

—महाभारत व० प० ७१। ११

गोपिका—गोपोंकी स्त्रियाँ, ग्वालिनि, गोपांगना, अहीरिनि, व्रजकी स्त्रियाँ, व्रजमें रहनेवाली।

"गोपीदयामा गोपवल्ली गोपा गोपालिका च सा।"

—वाचस्पतिकोष

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

"नखलु 'गोपिका' नंदनो भवानखिलदेहिनामंतरात्मदृक्।"

—श्रीमद्भागवत १०। ३१। ४

गोपिका शब्दका एक अर्थ—रक्षण करनेवाली, छिपानेवाली और रक्षा करनेवाली भी होता है, जैसे—

"आत्मानं गोपयेत् या च सर्वदा पशुसंकटे।
सर्वयत्नोद्भया रक्ष्या 'गोपिका' सा प्रकीर्तिता॥"

और इनका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा जाता है—

"गोपिकाः श्रुतयोऽभवन् ।"

—गोपोपनिषद्

अथवा—

"गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेयाः स्वाधिजा गोपकन्यकाः ।
देवकन्याश्च राजेंद्रः न मानुष्यः कथंचन ॥"

—पद्मपुराण

और इनके नाम—

पूर्णरसा, रसमन्थरा, रसालया, रससुंदरी, रसपीयूषधामा, रसतरंगिणी, रसकल्लोलिनी, रसनायिका, अनंगमंजरी, अनंगमानिनी, मदयंती, रंगविह्वला, ललिता, ललितयौवना, अनंगकुसुमा, मदनमंजरी, कलावती, रतिकला, कलकंठी, अब्जास्या, रतोत्सुका, रतिसर्वस्या, रतिचिंतामणि ।

श्रुतिरूपा—

उद्गीता, रसगीता, कलगीता, कलस्वरा, कलकंठिता, विपंची, कलपदा, बहुमता, बहुकर्मसुनिष्ठा, बहुहरिः, बहुशाखा, विशाखा, सुप्रयोगतमा, विप्रयोगा, बहुप्रयोगा, बहुकला, कलावती, क्रियावती ।

मुनिस्वरूपा—

उग्रतपा, सुतपा, प्रियव्रता, सुरता, सुरेखा, सुपर्वा, बहुप्रदा, रत्नरेखा, मणिग्रीवा, अपर्णा, सुपर्णा, मत्ता, सुलक्षणा, सुरती, गुणवती, सौकालिनी, सुलोचना, सुमना, सुभद्रा, सुशीला, सुरभि, सुखदायिका ।

और गोपबाला—

चंद्रावली, चंद्रिका, कांचनमाला, रुक्ममालावती, चंद्रानना, चंद्रेखा, चंद्रावी, चंद्रमाला, चंद्रप्रभा, चंद्रकला, सौवर्णमाला, मणिमालिका, वर्णप्रभा, शुद्धकांचनसन्निभा, मालती, यूथी, वासंती, नवमल्लिका, मल्ली, नवमल्ली, शेफालिका, सौगंधिका, कस्तूरी, पद्मिनी, कुमुद्वती, रसाला, सुरसा, मधुमंजरी, रंभा, उर्वशी, सुरेखा, स्वर्णरेखिका, वसंततिलका।

—पद्मपुराण, पातालखण्ड

नित्य-प्रिया सहचारी—

चंद्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा, पालिका, खंजनाक्षी, मनोरमा, मंगला, विमला, लीला, कृष्णा, सारिका, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शंकरी, कुंकुम।

यूथ-पति—

चंद्रावली, सुशीला, शशिकला, चंद्रमुखी, माधवी, कदंबमाला, कुंती, यमुना, जाह्नवी, पद्ममुखी, सावित्री, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरी, सर्वमंगला, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गंगा, अंबिका, सती, नंदिनी, सुंदरी, कृष्णप्रिया, मधुमती, चंपा, चंदना।

मरँम, मरजाद, रोप और गोपिका शब्दके सुंदर प्रयोग।

यथा—

"मरँम' को पीर न जानत कोई।"

"देखी सब 'मरजाद' तिहारी, बासर बरनत बीते।"

—नन

"कहा 'रोप' रहे ए बातें, तनक विचारौ मधुकर।"

—सूर

"हरि सँग नचत 'गोपिका' रँग भीनी।"

—परमानंददा

उक्त भावपर श्रीसूर कहते हैं—

"अब अति चकितवंत मन मेरौ।
आयौ हो निरगुन उपदेसँन भयौ सगुन कौ चेरौ।
मैं कछु ग्याँन कह्यौ गीता कौ, तुमहिं न परयौ सुनेरौ॥
अति अग्याँन जानिकैं अपनौं, दूत भयौ उन केरौ॥
निज जन जाँनि हरि इहाँ पठायौ, दीन्हौं बोझ घँनेरौ।
'सूर' मधुप उठि चल्यौ मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ॥"

—सूरसागर

श्रीनंददास उक्त सूक्ति—"ए सब प्रेमासकति है रहीं लाज-कुल-लोप। धन्न ए गोपिका"—पर श्रीमद्भागवतमें गोपियोंके प्रति भगवान् कहते हैं—

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माऽभजन्दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥"

—श्रीमद्भागवत १०।३२।२२

अर्थात्—

"तुम जो करी सो कोऊ न करै, सुनि नवल किसोरी।
लोक-वेद की सुदृढ़-संखला तृँन-सँम तोरी॥"

—नंददास

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रम भोत्साही भवति ।"[1]

*

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ।
निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥"[2]

—नारदभक्तिसूत्र १—५, ७, ८

अर्थात्—'अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे। वह परमप्रेमरूप है और अमृतरूप भी है। जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है—तृप्त हो जाता है। जिसके प्राप्त होनेपर मनुष्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे विषयादि भोगोंकी प्राप्तिके निमित्त उत्साह ही होता है।

वह—प्रेमाभक्ति कामना युक्त नहीं है, क्योंकि निरोधस्वरूप है। लौकिक और वैदिक कर्मोंके त्यागको 'निरोध' कहते हैं।

---

१. श्रीशुक कहते हैं—

"यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥"

—श्रीमद्भागवत ६ । १२ । २२

२. कुछ ऐसी ही बात गोपियोंने भगवान्से कही है, जैसे—

"चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥"

— भागवत १० । २९ । ३४

श्रीशाण्डिल्य ऋषि भी अपने भक्ति-सूत्रमें यही बात कहते हैं, जैसे—

"अथातो भक्तिजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे। तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्।"[1]
"तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात्।"[2]

—भक्तिसूत्र ११, २, ३, २२,

यहाँ भक्तिसे प्रेम वा अनुरागका ही अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि द्वेषसे प्रतिकूल होनेके कारण और रस शब्द-द्वारा प्रतिपादित होनेसे भक्तिका नाम ही अनुराग है—इसे ही प्रेम कहते हैं, जैसे—

"द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः।"

—शा० भ० सू० १६

---

१. अब भक्तिकी जिज्ञासा—विचार आरंभ करते हैं। वह भक्ति ईश्वरमें पूर्ण अनुरागको कहते हैं। उसमें जो चित्त लगाता है वह अमृत-फल पाता है।

२. इससे भक्ति ही मुख्य है, क्योंकि भक्तको कर्मठ, ज्ञानी और योगियोंसे उत्तम कहा है। गीतामें भी यही बात कही गयी है, जैसे—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ६। ४६-४७

योगी, तपस्वियोंसे, ज्ञानियोंसे और कर्मकाण्डियोंसे अपेक्षा श्रेष्ठ है, इसलिये अर्जुन, तू योगी हो। परंतु योगियोंमें मैं उसे ही सबसे श्रेष्ठ, उत्तम, युक्त समझता हूँ जो कि मुझमें अंतःकरण लगाकर श्रद्धासहित मुझे भजे—मुझमें ही ध्यान लगाये।

सजी कहते हैं—

लाज तीन लोक की, न वेद कौ कह्यौ करें।
संक-भूत-प्रेत की, न देव-जच्छ तें डरें॥
तें न कॉंन और की, द्रसौ न और इच्छना।
न बात और की, सुभक्ति-प्रेम-लच्छना॥"

※

हुँक हँसि उठि नृत्त करै, रोवन फिरि लागै।
हुँक गद-गद-कंठ, सबद निकसै नहिं आगै॥
हुँक हृदै उमंग, बहुत ऊँचे-सुर गावै।
हुँक ह्वै मुख-मौंन, गगॅन जैसौ रहि जावै॥
त-चित्त हरि-सॉं लग्यौ, सावधान कैसें रहै।
प्रेम-लच्छना भक्ति है, सिस्य सुनौं 'सुंदर' कहै॥

—सुंदरविला

६५

न—अल्प ज्ञान, न कुछ ज्ञान, थोड़ा ज्ञान। मद-
अहंमन्यता, घमण्ड, अज्ञान, मतिविभ्रम, प्रमाद।

दोरेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः।"

—विश्वे

हित्यमें 'मद' भी एक संचारी भाव—व्यभिचारी भाव मा

ोहानंदसंभेदो मदो मद्योपयोगजः॥"

—साहित्यदर्पण ३।१४

जिसमें बेहोशी और आनंदका संमिश्रण हो वह मस्म
है।

व्याधि—व्याधि, रोग, पीड़ा, क्लेश, दुःख। यथा—

"स्त्री रुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः।"

—अमरकोष २। ६। ५१

साहित्य-शास्त्रमें 'व्याधि' एक संचारी भाव भी माना जाता है, साहित्य-दर्पणमें लिखा है—

"व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्।"

—सा० द० तृ० प० १६४

ब्रज-भाषाके सुप्रसिद्ध कवि 'पद्माकर' मद संचारीकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

"धन, जोबन, रूपादि ते, कै मद्यादि के पाँन।
प्रघट होत 'मद' भाव सहँ, औरें गति, बतराँन॥

—जगद्विनोद

और उदाहरण जैसे—

"बृंदाबन-बीथिनि में बंसीबट-छाँह अरी!
कौतुक अनोंखौ एकु आज लखि आई मैं।
लागौ हुतौ हाट एकु मदन-धनी कौ, जहाँ—
गोपिं'न कौ बृंद रह्यौ झुमि चहुँधाई मैं॥
'द्विजदेव' सौदा की न रीति कछु भाँखी जाइ,
है रही जु नेंननि उनमत्त की दिखाई मैं।
लै-लै कछु रूप मनमोंहन सौं बीर-
वे अहीरनें गँवारी देति हीरन बटाई मैं॥

—शृंगारलतिका

अथवा—

"बाँम समासौ करि रही,' बिवसि बारनी सेइ।
झुकति, हँसति, हँसि-हँसि झुकति, झुकि-झुकि, हँसि-हँसि देइ॥"

१. बात, पित्त और कफ उत्पन्न व्याधिको 'व्याधि' कहते हैं।

"निपट लजीली नवल तिय, बहकि बारुनी सेइ।
त्यों-त्यों अति मीठी लगै, ज्यों-ज्यों ढीठ्यौ देइ॥"

—बिहारीसतसई

व्याधि संचारीकी व्याख्या करते हुए पद्माकरजी कहते हैं—

"विरह-बिबस कामादि तें, तन संतापित होइ।
"ताही कों सब कबि कहति, 'व्याधि' कहावत सोइ॥"

—जगद्विनोद

और उदाहरण—

"बेदँन ए जानैं कौन, बेदँन ए मानैं कौन,
बेदँन उदोत होत छेद नए छाती है।
पी की बतियाँनि सुनि ती कैं अति आँसुन की,
उमड़ी नदी-सी बड़ी नदी-सी सुहाती है॥
सोक है सुहात, जाहि सोक है बिषम-गात,
बिष-बिष मेल की लहर लहराती है।
घूँमि-घूँमि गिरति, भुजनि-भरैं झूँमि-झूँमि,
सखी-मुख चंद-चूँमि-चूँमि बिलखाती है॥"

—कोई कवि

---

१. अथवा—

"तचै तार वैवरन ह्वै, दीरघ लेइ उसासु।
भूँख, प्यास, सुधि, बुधि घट, 'व्याधि कहावै तासु॥

—बिहारी

रोग और वियोगसे उत्पन्न मनके संतापको भी 'व्याधि' संचारी भाव कहा जाता है।

अथवा—

देखि री आजु यै गोप-बधू, भई बावरी नेंकु न देहि सँभारै ।
माइ सुधायन देवँन-पूजति, सासु-सयाँनि सयाँन पुकारै ॥
यों 'रसखाँन' घिरयौ सगरौ ब्रज, आँनके आँन उपाइ बिचारै ।
कोउ न मोंहन के करतें, यह बैरिनि-बाँसुरिया गहि डारै ॥"

—सुजानरसखान

एक और—

"पलनि प्रगट बरुनीनि बढ़ि, नहिं कपोल ठहराँइ ।
ते अँसुवा छतियाँ परें, छनछनाइ छिप जाँइ ॥"

—बिहारीसतसई

आधों-आधि—तनक भी, जरा भी, उसके समान नेक भी नहीं। तनक भी नहीं, बराबर नहीं।

लघु-ग्याँन, मद, ब्याधि और आधों-आधि[1] आदि सरस शब्दोंके सुंदर प्रयोग—

"अति लघु-ग्याँन जनात आपुनों, कहि निरगुँन की बातें ॥"

—सूरदास

'मद' भरीं अँखियाँ लाल, तिहारी ।"

—नागरीदास

"बाढ़ति 'ब्याधि' तनकि बिछुरें सखि, होइ जु कछु अब हौंनों ।"

—चतुरबिहारी

कुछ ऐसी ही मधुर बात श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

"या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायंति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकंठ्यो-
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥"[1]

—श्रीमद्भागवत १०।४४।१

श्रीनंददासजीकी उक्त सुमधुर सूक्तिके सदृश भर्तृहरिजीने एक बड़ी उत्तम उक्ति कही है, जैसे—

"यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदांधः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मेव्यपगतः॥"[2]

—नीतिशतक

श्रीसूर कहते हैं—

"अब अति पंगु भयौ मन मेरौ।
पढ्यौ हौ निरगुँन उपदेसन, भयौ सगुँन कौ चेरौ॥
जो कछु कह्यौ ग्याँन-गाथा सो तुमहिं न परसत नेरौ।
मैं सठ, बाद कियौ सो यौं ही, कह्यौ-सुन्यौं उँन्ह केरौ॥

---

१. जो दूध दुहने, दही मथने, कूटने, लीपने, छाँटने, बालकोंके रोने-धोने और बुहारने आदिके समय भी अश्रुपूर्ण, गद्गद् कंठ और अनुरक्त बुद्धिसे भगवान्का यशोगान करती हैं वे भगवान् श्रीकृष्णमें ही अपना मन लगाये रहनेवाली व्रजकी स्त्रियाँ धन्य हैं।

२. जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्तकर हाथीके समान मदांध हो रहा था, उस समय मेरा मन "मैं ही सर्वज्ञ हूँ" ऐसा सोचकर घमंडमें चूर हो रहा था, परंतु जब विद्वानोंके पास बैठकर कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त किया तो "मैं मूर्ख हूँ" ये समझनेके कारण ज्वरके समान मेरा दर्प दूर हो गया।

मैं जान्यौं नहिं प्रेम जु पलभरि, ह्याँ पद्मास बसेरौ।
'सूर' स्याँम पै आग्या दीजै, बोरि जोग कौ बेरौ॥"

अथवा—

"मैं ब्रज-बासिनि की बलिहारी।
जिनके संग सदाँ क्रीड़त हैं, श्रीगोवरधनधारी॥
किनहूँ के घर माँखन चोरत, किनहूँ के सँग दाँनी।
किनहूँ के सँग धेंनु चरावत, हरि की अकथ-कहाँनी॥
किनहूँ के सँग जमुना के तट, बंसी-टेरि सुनावत।
'सूरदास' बलि-बलि चरननि की, यै सुख नित मोहिं भावत॥"

—सूरसागर

६६

उद्धव-अभिलाषा-कथन

धूरि[1]—धूलि, रज, रेणु। *जीवन-मूरि*—संजीवनी बूटी, जिलानेवाली जड़ी। अत्यंत प्रिय वस्तु। जीवन औषधी।

धूरि और जीवनमूरि शब्दके सुंदर प्रयोग, यथा—

"लै उठाइ, अंचल गहि पोंछति, सबै 'धूरि' भरि देह।"

—सूरदास

"रामदास' कौ ठाकुर गिरिधर, ब्रज-जन 'जीवन-मूरि'॥"

—रामदास

---

१. ब्रजरजकी—धूरिकी महिमा नागरीदासजीने बड़ी उत्तम वर्णन की है, जैसे—

"जदपि न्हात न अर्द्ध-गति, जाति क्यार द्वै पाँने।
तदपि न तीरथ जउ कोऊ, ब्रजकी धूरि गमाँने॥"

फकिशर रसखानजी भी कुछ ऐसी चाहना करते हुए फर्माते हैं—

"मानुष हौं तो वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल-गाँव के ग्वारँन।
औ पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु-मझा̃
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धरयो कर छत्र पुरंदर धा
औ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी-कूल-कदंबकी डा

—सुजान

श्रीहठीजी कहते हैं—

"गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के बगर कौ।
नर कीजै तौन जौन राधे-राधे नाम रटै,
तरु कीजै बर कूल-कलिंदी-कगार कौ॥
इतने पै जोइ कछु कीजिऐ कुँमर कान्ह,
राखिऐ न आँनि फेरि 'हठी' के झगर कौ।
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल-नगर कौ॥"

—राधासुधा

परम प्रेमी ललित किशोरीजी कहते हैं—

"कँदम-कुंज ह्वै हौं कबै, श्रीबृंदाबन-माँहिं।
'ललितकिसोरी' लाड़िले, बिहरेंगे तिहिं छाँहिं॥"

*

"सुमन-बाटिका बिपिन में, ह्वै हौं कब मैं फूल।
कोंमल कर दोउ भाँवते, धरि हैं बीनि दुकूल॥
मिलि है कब अँग छार ह्वै, श्रीबन-बीथिनि-धूरि।
परि हैं पद-पंकज बिमल, मेरे जीवन-मूरि॥"

❀

"कब कालिंदी-कूल की, ह्वै हौं तरुवर डार।
ललितकिसोरी, लाड़िले, झुलिहैं झूला डार॥"

—लघुरसकलिका

कृष्णगढ़के महाराज श्रीनागरीदासजीने भी कुछ परम प्रेममयी अभिलाषाएँ की हैं, जैसे—

"कब वृंदावन-धरनि में, चरन परैंगे जाइ।
लोटि धूरि धरि सीस पै, कछु मुखहूँ मैं पाइ॥"

❀

"पिक, केकी, कोकिल कुहुँक, बंदर-बृंद अपार।
ऐसे तरु लखि निकट कब, मिलिहौं बाँह-पसार॥"

❀

"कबै झुकत मो ओर कौं, ऐहैं मद-गज-चाल।
गर बाँहीं दीएँ दोऊ, प्रिया-नवल-नँदलाल॥"

"कब दुखदाई होइगो, मोकौं बिरह अपार।
रोइ-रोइ उठि दौरि हौं, कहि-कहि नंदकुमार॥"

❀

"नैन स्रवैं, जलधार बह, छिन छिन लेति उसास।
रैनि अँधेरी डोलिहौं, गावत जुगल-उपास॥"

❀

"चरँन छिदत काँटेनु तें, स्रवत रुधिर सुधि-नाहिं।
दूँढ़ति हौं फिरि हौं तहाँ, खग, मृग, तरु, बन-माँहि॥"

❀

हेरत, टेरत डोलि हौं, कहि-कहि स्याँम सुजाँन।
फिरत, गिरत बन-सघन में, यौं ही छुटि हैं प्राँन॥"

आँखें जो खुल रही हैं मरने के बाद मेरी।
हसरत य था कि उनको, मैं एक निगाह देखूँ॥ —मीर

निकल जाय दम तेरे क़दमों के नीचे।
यही दिल की हसरत, यही आरज़ू है॥ —कोई शायर

एक और—

"कदँबकी छाँह हो, जमुना का तट हो।
अधर मुरली हो, माथे पर मुकुट हो॥"
"खड़े हों आप, इक बाँकी अदा से।
मुकट झोके में हो, मौजें हवा से॥"
"गिरै गरदन ढुलककर पीत-पट पर।
खुली रह जाँय ये आँखें, मुकट पर॥"
"दुशाले की एवज हो ब्रजकी यह धूल।
पड़े, उतरे हुए जहाँ सिंगार के फूल॥"
मिले जलने को लकड़ी, ब्रज के बन की।
छिड़क दी जाय धूली, या सदन की॥"
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा।
तुम्हारा नाम हो, औ काम मेरा॥ —कोई भक्त

६७

द्रुम—वृक्ष, तरुवर, रूख, पेड़।

"वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः।
अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः॥"
—अमरकोश २।४।५

गुल्म—वृक्ष विशेष, झाड़ी, शाखा-शून्य वृक्ष, ठूठ। यथा—

"अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ……।"
—अमरकोश २।४।९

अप्रकांड¹—शाखारहित वृक्षकी परिभाषा लिखते हुए 'भरत' भगवान् लिखते हैं, कहते हैं—

"अविद्यमानप्रकाण्ड स्तनुप्रकाण्डो वा बहुपत्रवान् मल्लीझिंटी—नलकमलवंशवीरणादिर्मूलादारभ्य पूर्वभागः प्रकाण्डः॥" —भरतमते

अथवा—

"गुच्छगुल्मंतु विविधं तथैव तृण जातयः। —मनुः

गुल्मकी व्याख्या—परिभाषा लिखते हुए 'कुल्लूकभट्ट' कहते हैं। यथा—

"यत्र लतासूहा भवंति न च प्रकांडानि ते गुच्छा मल्लिकादयः गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः।" —अमरकोश टीका

लता—बेल, वल्ली, वल्लरी। लता वह वृक्ष विशेष होता है जिसकी लंबाई तो बहुत हो, परंतु बिना आश्रय खड़ी न रह सके। यह प्रायः सूत वा डोरीके माफिक पतला होता है और बिना सहारे ये नहीं बढ़ता या नहीं बढ़ती। अमरकोशमें इसके नाम यों लिखे हैं, जैसे—

"वल्ली तु व्रततिर्लता।"

—अमरकोश २।४।९

बेली—बेल, बल्ली बल्लरी। वनस्पतिशास्त्रके अनुसार वे मिल छोटे पौधे जिनमें काण्ड, अर्थात् मोटे तने नहीं होते और जो बगैर ऊपरकी ओर उठकर नहीं बढ़ सकते²।

---

१. न प्रकाण्डः स्कंधो यस्य स अप्रकाडः।

२. श्रीनंददासजीने इस छंदमें—'लता' और बेली दोनों समानार्थवाची शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग किया है जो कि उचित सा प्रतीत नहीं होता। अथवा नंददासजीने इन शब्दोंको विभिन्न अर्थोंके द्योतनस्वरूप प्रयोग किया हो तो यह विचारणीय है। अमरकोशकारने तो इन दोनों शब्दोंको समानार्थवाची ही माना है, जैसा कि उदाहरणस्वरूप लिखा जा चुका है। पद्म चन्द्रकोशमें एक शब्दका अर्थ 'उपवन' और मिलता है, परंतु इसकी पुष्टिमें न तो कोई

"'गुल्म' 'लता' है रहिए इहि ठाँ, तन रंजित ब्रज-रेनु।'

—नागरीदास

"जे 'बेली' ग्रीषम-ऋतु डारहीं, ते तरुवर लपटोहीं।"

—सूरदास

कुछ ऐसी ही शुभ चाहना श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीने भी की है, जैसे—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥"[1]

—श्रीमद्भागवत १०। ४७। ६१

अथवा—

"वन्दे नंदव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥"[2]

—श्रीमद्भागवत १०। ४७। ६३

नागरीदासजी कहते हैं—

'ऊधौ, बार-बार सिर नावत।
गद्-गद् कंठ, पुलकि बिह्वल ह्वै, कर पाँइन सों छ्वावत॥

---

१. मैं इन गोपियोंकी-चरण-रेणु-रंजित वृंदावनमें उत्पन्न गुल्म, लता और औषधमेंसे कोई भी हो जाऊँ—बन जाऊँ तो बड़ा उत्तम हो, क्योंकि इन्हों (गोपियों) ने छोड़े जानेमें असमर्थ अपने पति पुत्रादिक और स्वार्थ-मार्गका त्याग कर वेदोंद्वारा ढूँढ़े जाने योग्य भगवान् कृष्णकी पदवी प्राप्त की।

२. मैं, नंद और व्रजकी इन सब स्त्रियोंकी चरण रजकी बार बार वंदना करता हूँ, क्योंकि इनके गाये गये 'हरिगीत' त्रिभुवनको पवित्र करनेवाले हैं।

साधु-संग, पारस और कंचन आदि सरस शब्दोंका सुन्दर प्रयोग—

'साधु-संग कबहूँ ना कीन्यौं, रचत पचे झूँठ।'

—नाभादास

'पारस' के सँग ताँबा बिगर्यौ।
सो ताँबा 'कंचन' ह्वै निसर्यौ॥'

—कबीरदास

सत्संगति महिमाका वर्णन करते हुए भागवतमें महर्षि कहते हैं—

'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥'[1]

—श्रीमद्भागवत १।१८।१३

आगे चलकर उद्धवके प्रति भगवान् कहते हैं—

'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो इष्टापूर्तं न दक्षिणा॥'
'व्रतानि यज्ञश्छंदांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्॥'[2]

—श्रीमद्भागवत ११।१२।१, २

---

१. यदि भगवान्में आसक्त संतोंका क्षणभर भी संग प्राप्त हो तो उससे स्वर्ग और मोक्षकी तुलना नहीं हो सकती, फिर अन्य अभिलषित पदार्थोंकी क्या बात ?

२. सम्पूर्ण आसक्तियोंको दूर करनेवाला सत्संग मुझे जिस प्रकार अपने वशमें करता है, वैसा न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप, न त्याग, न इष्टापूर्त, अर्थात् लोगोंकी भलाईके कार्य, न दक्षिणा, न व्रत, न यज्ञ, न वेद, न तीर्थ और न नियम ही कर सकते हैं।

पद्मपुराणमें कहा है

"भवान्तरेषु बहुजन्मसमार्जितेन
सत्संगमं लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥"[1]

—पद्मपुराण ६।१९०।३९

भगवान् श्रीरामने भक्तिका उपदेश करते हुए अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

"भक्तानां मम योगिनां सुविमलस्वान्तातिशान्तात्मनां
मत्सेवाभिरतात्मनां च विमलज्ञानात्मनां सर्वदा।
संगं यः कुरुते सदोद्यतमतिस्तत्सेवनेऽनन्यधी-
र्मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं दृश्यो भवे नान्यथा॥"[2]

—अध्यात्मरामायण ३।४।५२

भर्तृहरिजी कहते हैं —

"जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।

---

१. जब बहुत जन्मके पुण्य पुञ्जसे भाग्योदय होनेपर पुरुषको सत्संगकी प्राप्ति होती है, तब ही अज्ञानकृत मोह और मदरूप अन्धकारका नाश कर विवेकरूप सूर्य उदय होता है।

२. जो तत्परतापूर्वक साधु सेवामें अनन्य बुद्धि रखता हुआ मेरे भक्तों का, निर्मल और शान्तचित्तवाले योगियोंका, मेरी सेवा-पूजामें अनुरक्त मेरे भक्तोंका और निर्मल ज्ञानियोंका सदा ही संग करता है उसके मोक्ष करतलगत रहता है तथा मैं अहर्निश उसकी दृष्टिका विषय बना रहता हूँ; अन्य किसी उपायसे मैं दर्शन नहीं दे सकता।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
　　स-संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥'[1]
　　　　　　　　　　　　　　—नीतिशतक

अथवा—

　　'तत्त्वं चिंतय सततं चित्ते
　　　　परिहर चिंतां नश्वरवित्ते ।
　　क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका
　　　　भवति भवार्णवतरणे नौका ॥'[2]
　　　　　　　　　　　　　　—कस्यचित्

सत्संगतिपर ब्रज-भाषा-साहित्याकाशके सुन्दर सूर्य श्री 'सूर' कहते हैं—

　　'जा दिन संत-पाहुँनें आवत ।
तीरथ कोटि असनान करें फल, दरसँन ही ते पावत ॥
नेह नयौ दिन-दिन-प्रति उनकौ, चरन-कँमल चित लावत ।
मन-बच-करम और नहिं जानति, सुमरति औ सुमरावत ॥
मिथ्यावाद उपाधि-रहित ह्वै बिमल-बिमल जस गावत ।
बंधन-करम-कठिन जे पहिले, सोऊ काटि बहावत ॥
संगति रहैं साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत ।
'सूरदास' या जनम-मरन तें, तुरत परम-गति पावत ॥'
　　　　　　　　　　　　　　— सूरसागर

१. सत्संगति पुरुषोंका क्या उपकार नहीं कर सकती, वह (सत्संगति) बुद्धिकी जड़ताको हरती है, वाणीमें सत्यका संचार करती है, सम्मान बढ़ाती है, पापको दूर करती है, चित्तको आनन्दित करती है और सम्पूर्ण दिशाओं में कीर्तिका विस्तार करती है ।

२. चित्तमें निरन्तर तत्त्वका चिन्तन करो या न करो, धनकी चिन्ता भी करो या न छोड़ो, क्योंकि सज्जनोंकी एक क्षणकी संगतिरूप नौका ही भवसागरसे पार करनेको काफी है ।

"मन यह नीच, संगी नीच।
उच्च-पद कों चढ़त नाहीं, जदपि नियरी मींच॥
नवन पाप कों गवन करही, ज्यौं बनी रड़ लैंड।
प्रबल अति नहिं रुकत रोकें, ग्यौंन-धूरि की मेंड़॥
मिलत जाही रंग आपुन, होत ताही रंग।
देहु 'नागरिदास' कों, यातें प्रभू, सतसंग॥"

❀

"बिन सतसंग मति बे-ढंग।
फिरत डाँवाँडोल मन ज्यों, बिन लगाँम तुरंग॥
कबहुँ गिरि-गिरि उठत अति स्रम, चढ़त क्रोध उतंग।
कबहुँ मूरख भ्रमत आतुर, उपज अंग-अनंग॥
कहाँ तप, व्रत, दाँन, संजम, कहा न्हाएँ गंग।
'दासनागरि' बिना साधन, सकल साधन भंग॥"

—नागरसमुच्चय

कबीर साहब फर्माते हैं—

"'कबीर' संगति साधी की, कदै न निरफल होइ।
चंदन होसी बाँवना, नींव न कहसी कोइ॥"

❀

"कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ॥"

❀

"मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगन्नाथ।
साध-सँगति हरि-भगत बिन, कछू न आवै हाथ॥"

❀

"मेरे संगी दोइ जणें, एक वैष्णों एक रॉम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥"

❀

"कबीर सोइ दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं।
अंक भरें भरि-भेंटिया, पाप सरीरौ जाहिं॥"

❀

"कबीर' चंदन का बिड़ा, बैठ्या आक-पलास।
आप सरीखा कर लया, जे होते उण पास॥"

—कबीरग्रन्थावली

"संगत कीजै संत की, जिनका पूरा मन।
अनतोलें ही देति हैं, नाम सरीखा धन॥

❀

"कबीर' संगत साध की, हरै और की व्याधि।
संगत बुरी असाध की, आठों पैहर उपाधि॥"[1]

❀

"कबीरा' संगत साधकी, जौ की भूसी खाइ।
खीर-खाँड़ भोजन मिलें, साकट-संग न जाइ॥"

❀

"कबीरा' संगत साध की, ज्यों गंधी का बास।
जो कुछ गंधी दे नहीं, तौ भी बास-सुबास॥"

❀

"रिद्धि-सिद्धि माँगू नहीं, माँगू तुम पै येह।
निसि-दिन संगति साधकी, कह 'कबिरा' मोहिं देय॥

❀

---

१. कबीर साहबका उक्त दोहा—थोड़े हेरफेर से, गोस्वामी तुलसीदासके नामसे भी मिलता है। जैसे—

"तुलसी' संगत साधु की, हरै और की व्याधि।
संगति बुरी कुलीन की, आठों पहर उपाधि॥"

परंतु यह दोहा 'तुलसीदोहावली' या तुलसीग्रन्थावलीमें नहीं है।

"राँम बुलावा भोजयाँ, दिया 'कबीरा' रोइ ।
जो सुख साधु-संग माँ, सो बैकुंठ न होइ ॥"

❀

"एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी हूँ सें आध ।
'कबीर' संगत साध की, कटै कोटि अपराध ॥"

—संतबानीसंग्रह

सुन्दरदासजी कहते हैं—

"प्रीति प्रचंड लगै परब्रह्महिं, और सबै कछु लागत फीको ।
शुद्ध हृदै मन होइ सो निरमल, द्वैत प्रभाव मिटै सब जीको ॥
गोष्टसबाँन अनंत चलै जहँ 'सुंदर', जैसें प्रवाह नदीको ।
ताहि तें जाँनि करौ निसि-बासर, साधुकौ संग सदाँ अति नीको ॥"

❀

तात मिलै, पुनि मात मिलै, सुत-भ्रात मिलै, युवती सुखदाई ।
राज मिलै, गज-बाज मिलैं, सब साज मिलैं मन-बाँछित पाई ॥
लोक मिलै, सुर-लोक मिलै, बिधि-लोक मिलै बैकुंठहु जाई ।
'सुंदर' और मिलै सबही सुख, संत-समागम दुरलभ भाई ॥

— सुन्दरविलास

अंतमें श्रीमद्वीरगोस्वामीजीकी उदार प्रीति उक्ति भी देखिये मनन करिये, जैसे—

"तं श्रीमद्रूपं वन्दे कृष्णप्रेष्ठपदोऽपि यः ।
गोपीपादाब्जधूलिस्पृक् पुण्यजन्माभ्यवाञ्छत ॥"[1]

—[illegible]

---

१. मैं उन कृष्णके परम प्रेष्ठ [illegible] वन्दना करता [illegible] कि मेरी पादपद्मधूलि रहित हुए देना चाहते हैं ।

६९

उद्धवका मथुरा प्रत्यागमन

मग—मार्ग, रास्ता, डगर, बाट, राह ।

"अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः ॥"

—अमरकोष २ । १ । १५

अभिलखि—अभिलाष, आकांक्षा, कामना, आशा ।

"इच्छाकांक्षा स्पृहेहा तृड्वांछालिप्सामनोरथः ।
कामोऽभिलाषस्तर्षश्च सोऽत्यर्थं लालसाद्वयोः ॥"

—अमरकोष १ । ७ । २७, २८

मग और अभिलखि शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"नित ही इहि 'मग' जाति दाँन लै, तुम सब निपट सबेरें ।"

—गंगाबाई

किते मोल बेचैगी ग्वालिनि, कहि मन जो 'अभिलाख' ।"

—आसकरनदास

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

"अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥"[1]

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६४

रसरूपजी कहते हैं—

"चले न ब्रज बनितान के, बियके घर-घर धूंम ।
कछु न चली, उद्धव चले, गहरे बाइन धूंम ॥"

—उपालम्भशतक

१. इस प्रकार उद्धवजी गोपियोंसे, यशोदासे और यथा नंदसे आज्ञा माँग और गोपोंसे मिलकर मथुरा जानेके निमित्त रथपर चढ़े ।

ब्रज-भाषा-माताके लाड़िले स्वर्गीय रत्नाकरजीने उद्धवके मथुरा-प्रत्यागमनपर बड़ी सुमधुर सूक्तियाँ कही हैं, जैसे—

'धाई जित-तित तें बिदाई-हेतु ऊधव की,
गोपी-भरीं आरति सँम्हारति न साँसुरी।
कहै 'रतनाकर' मयूर-पच्छ कोउ लएँ,
कोउ गुंज अंजली उमाहे प्रेम-आँसुरी॥
भाव-भरी कोउ लएँ रुचिर सजाव दही,
कोउ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत-पट नंद, जसुमति नवनीत नयौ,
कीरति-कुमारी सुरबारी दई बाँसुरी॥'

❀

'कोउ जोरि हाथ, कोउ नाइ नम्रता सौं माथ,
भाषन की लाख लालसा नहिं जात हैं।
कहै 'रतनाकर' चलत उठि ऊधव के,
कातर ह्वै प्रेम सौं सकल महि मात हैं॥
सबद न पावत सो भाव-उमगाव जो-
ताकि-ताकि आँनन ठगे-से रहि जात हैं।

१. निज कवि कहते हैं—

जात हौं जसोदा नंद जू सौं अनुसासन लै,
बड़े ही उमाहन सौं मिले हैं सखान सें।
'निज जू' सुकवि लै संदेसौ ब्रज भक्तन को,
रथ पै चढ़े हैं ऊधौ कहै मनमोन सौं॥
ब्रजमैन देत बहु भेंट हरें नंदराय,
नैन भरि कही भलो, करिको है कोन सौं।
आनन की ओर-आन लोभ हम भरि रहे,
देखि ब्रज आइके कहै हमारे कमोन सौं॥

रंचक हमारी सुनौं, रंचक हमारी सुनौं,
रंचक हमारी सुनौं कहि रहि जात हैं ॥'

❀

'दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सबै,
ब्यौंत लिखिबे कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै 'रतनाकर' फुरति नहिं बात कछु,
हाथ धर्यौ ही-तल थहरि थरि जात है॥'
'ऊधौ कौं निहोरैं फेरि नैंकु धीर जोरैं पै-
ऐसौ अंग-ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जाति स्याही, लेखिनी के नैंकु डंक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बर जात है॥'

❀

'कोऊ चले काँपि, संग कोऊ उर-चाँपि चले,
कोऊ चले कछुक अलापि हलबल से।
कहै 'रतनाकर' सुदेस तजि कोऊ चले,
कोऊ चले कहत सँदेस अबिरल से॥
आँसु चले काहु के, सु काहू के उसास चले,
काहू के हिए पै चंद्रहास चले हल से।
ऊधव के चलत चलाचल चली यौं चल-
अचल चले औ अचले हू भए चल से॥'

❀

'दीन्यौं प्रेम-नेम-गरुवाई-गुन ऊधव कौं
हिय सौं हमेव-हरुवाई बहिराइ कैं।
कहै 'रतनाकर' त्यौं कंचन बनाइ काइ,
ग्यान-अभिमान की तमाइ बिनसाइ कैं॥
बातनि की धौंक सौं धमाइ चहूँ कोदनि सौं,
निज बिरहानल तपाइ पिघिलाइ कैं।

गोप की बधूटी प्रेम-बूटी के सहारैं मार,
चल-चित पारे की भसम भुरकाइ कैं ॥'[1]

'गोपी, ग्वाल, नंद जसुधा सौं तौ बिदा ह्वै उठे,
उठत न पाँइ पै उठावन लगत हैं।
कहै 'रतनाकर' सँभारि सारथी पै नीठि,
दीठिनि-बचाइ चल्यौ चोर ज्यौं भगत है ॥
कुंजन की, कूल की, कलिंदी की, रुद्रैंदी-दसा,
देखि-देखि आँस औ उसास उमगत है।
रथ तें उतरि पथ-पावन जहाँ-हीं-तहाँ,
बिकल-बिसूरि धूरि-लोटन लगत हैं ॥'

(७)

'भूले जोग-छेम-प्रेम-नेमहिं-निहारि ऊधौ,
सकुचि समाने उर-अंतर हरास-सौं।
कहै 'रतनाकर' प्रभाइ सब ऊने भए
सूने भए नैन-बैन अरथ उदास-सौं ॥
माँगी बिदा माँगन ज्यौं मंच उर-मंच बढ़ोइ,
कीन्यौं मौन गौन निज हिय के हुलास-सौं।
बिचकति साँस लौं, चलन रुकि जात फेरि-
साँस-लौं गिरत पुनि उठत उसास-सौं ॥'

—उद्धव

---

१. कविवर ग्वालजी कहते हैं—
'पारे करे तें हो गयो हो मनमोहन पै,
देखति ही मोहि हिये आनँद भरत है।
धरे तें तिहारी धन माल में भभूकें उठें-
परत बसन्त की जतन्न करे अंगार है ॥
'ग्वाल कवि' कहै लागी लपट दवागिनि की,
दौरयो मैं तहाँ तें लेइ प्यारो तुलत है।
मेरी बिरहागिनि में जोग उड़ि गयो ऐसे-
जैसे उड़ि जात ज्यों पावक में पारा है।'

७०

राजत—सुशोभित, बैठे । रस-भरे—रससे भरे, प्रेम-संयुक्त, मीठे, मधुर, अटपटे । लाड़िले—प्रिय, प्यारे, दुलारे, नटखट ।

राजत, रस-भरे और लाड़िले शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

'राजत' कौन है सुभग तरौनों, मनो सूर्य है बाके ।'

—कल्यानदास

'रस-भरे' तारे अति कजरारे, मोनों बीच परे री, मधुकर ।'

—मुरलीदास

'रहि-रहि नैन के 'लाड़िले' चित ऐसी इतरात ।'

—सूरदास मदनमोहन

श्रीमद्भागवतमें उक्त भावपर श्रीशुक कहते हैं—

'कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥'

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६९

अर्थात् उद्धव, मथुरामें पहुँचकर, श्रीकृष्ण और बलरामको प्रणाम कर तथा व्रज-वासियोंकी भक्ति-विह्वलता विशेष रूपसे प्रकाश-कर नंदादिक द्वारा दी गयी भेंट वसुदेवजी और महाराज उग्रसेनको देते हुए ।

इसी कथा-प्रकार सुकवि 'मित्र' जी कहते हैं—

'एहि विधि सुकवि 'मित्र' नेह ब्रज-भक्तन को
मथुरा ऊधव गावत ही भए हैं ।
ब्रज-कृष्ण-कलित ललित मधुपुरी माँहि,
ब्रज-प्रीति दरसैन ऊ को लीन भए हैं ॥

नंद को गजब है अनंद सौं नृपति आगें,
कृस्न-बल जू के पग आँसुन भिगाए हैं।
बंदि वसुदेव जू कौं सब की कुसल कहि
बाकी जो रही सो जानि हरि मुसिकाए हैं॥'
—गोपीप्रेमपीयूषप्रवाह

अथवा—

'कछुक देरि करि कैं बिलम, होस-हवास सम्हारि।
उद्धव बोल्यौ स्याम सौं, हरैं प्रिया-पग-धारि॥'
'आँखिन में छायौ अनुराग करुना कौ मद,
उर में समायौ प्रेम-पुंज को उँजाल है।
'नवनीत' प्यारे या गरे में प्रीति-फाँसी परी
हरी मति मेरी देखि गोपिन को हाल है॥
छीन होत छाती, बात मुख तें कढ़त नाथ,
सोग को सहारौ सोनौ जरचौ ततकाल है।
कहा कहौं आप सौं कृपाल गिरी नंदलाल,
ब्रज कौ हवाल कहिबे कौ कामसाल है॥'
—नवनीत कवि

रत्नाकरजी कहते हैं—

'चल-चित-पारद की दंभ-कंचुली कै दूरि,
ब्रज-मग-धूरि प्रेम-मूरि सुभ-सीली है।
कहै 'रतनाकर' सु जोगिनि-विधान-भाय,
अमित प्रतीति-प्याले गंधक गुनीली है॥
जारि घट-अंतर हीं आह-धूम-धारि सबै,
गोपी-बिरहागिनि निरंतर जगीली है।
धाए कोटि कपट विभूति मख-मालनि की,
व्याधिनि को रुचिर रसायन रसीली है॥'

'आए लौटि लज्जित नवाएँ नैन ऊधौ अब,
सब सुख-साधन कौ सूधौ-सौं सजन है।
कहै 'रतनाकर' गँवाएँ गुन-गौरव औ-
गरब-गढ़ी कौ परिपूरन पतन है॥
छाए नैन-नीर पीर-कसक कमाएँ उर,
दीनता-अधीनता के भार-सौं नतन है।
प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमरी मैं पूरि,
ग्यान-गूदरी मैं अनुराग-सौ रतन है॥'

'ज्योंही कछु कहन सँदेसौ लग्यौ, त्यौं ही रुक्यौ,
प्रेम-पूरि उँमगि गरे लौं चढ़ौ आवै है।
कहै 'रतनाकर' न पाँइ टिक पाँवें नैंकु
ऐसौ दृग-द्वारन स-बेगि कढ़्यौ आवै है॥
मधुपुरि-शासन कौ बेगि कछु ब्यौंत गढ़ौ
धाइ चढ़ौ बट कै न जौ पै गढ़्यौ आवै है।
आयौ मन्यौ भूपति-भगीरथ-लौं हौं तौ नाथ,
साथ लग्यौ सोई पुन्न-पाथ बढ़्यौ आवै है॥'
—उद्धवशतक

७१

भगवान् श्रीकृष्णसे उद्धवका गोकुल-वृत्तान्त-कथन

मूँठी—मुट्ठी, हाथकी वह मुद्रा—बनानेका 'ढंग' जो उँगलियोंको हथेलीपर मोड़नेसे—दबानेसे बनती है, किसी बा छिपानेकी एक क्रिया। अवलंब-ही—आश्रय मानते हैं, सहारा लेते शरण हैं। मेलौ—गेरो, पटको, फेंको, डालो।

मूँठी, अवलंबही और मेलौ आदि सुन्दर शब्दोंके सरस प्रयो

'भरि 'मूँठी' माँटी मुख मेली,सखा कहत सब ठाढे ।'

—परमानन्द

'कृष्ण, जादव, हे दमोदर, नाथ तुँम 'अवलंबई' ।'

—सूर

'गहि दोउ पाँइ स्याँमसुंदर तब, गेंदुक धरनी 'मेली' ।'

—परमानन्द

कुछ ऐसा ही प्रेम-भरा उलाहना स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्नने भी दिया है, जैसे—

'माधव, आप सदाँ के कोरे।
दीन-दुखी जो तुम कौं जाँचत, सो दूँनिनि के भोरे ॥
किंतु बात यह तुम सुभाव में, नैंकहु जानत नाँहीं ।
सुनि-सुनि सुजस रावरो, तुव ढिंग आवन कों ललचाँहीं ॥
नाम धरें तुम कौं जग-मोहन, मोह न तुम कौं आवै ।
करुना-निधि तुव हृदै न एकौ-करुना-बिंदु समावै* ॥
लेति एक कौ देति दूसरेहिं, दौंनो बन जग-माँहीं ।
ऐसी हेर-फेर निज नूतन, लाग्यौ रहत सदाँ हीं ॥
भाँति-भाँति के गोपिन के जो तुम प्रभु चीर-चुराए ।
अति उदारता सौं लै वेही, द्रौपदि कौं पकराए ॥
रतनाकर कौं मथत सुधा कौ कलस आप जो पायौ ।
मंद-मंद मुसिकात मनोहर, सौं देवँन कौं प्यायौ ॥
मत्त गयंद कुबलिया के जो, खेल-खेल हरिलीए ।
बड़ी दया दरसाइ, दयानिधि, सौं गजेंद्र कौं दीए ॥

---

* उक्तभावपर रसनिधिजी कहते हैं—
'सुमरत जग के रचन कों, मोह जगत के जाहिं ।
निरमोही जो होइ वह, कौंन आचरज आहि ॥'

करि कें निधन बालि-रावन कौ, राजपाट जो आयौ।
तहँ सुग्रीव बिभीषन कों करि अति अहिसौंन बिठायौ॥
पौंडरीक कौ सरबसु नसिकरि माल-मता जो लियौ।
ता कों विप्र सुदामा के सिर करि सनेह मढ़ि दीयौ॥
'ऐसी 'तुमा पल्टी के' गुन नेति-नेति स्रुति गावें।
सेस, महेस, सुरेस गनेसहूँ, सहसा पार न पावें॥
इत माया अगाध-सागर तुम खोगहु भारत-नैया।
रचि महाभारत कहूँ लरावत, भ्रु मैं भैया, भैया॥
या कारन जग में प्रसिद्ध अति 'निपटी ख्क्म' कहाऔ।
बड़े-बड़े तुम 'मठा घुँगारे', क्यों साँची सुलझाऔ॥'

अथवा—

'माधव, तुमहूँ भए बे-सास।
तुही ढाक के तीन पात हौ, करै क्यों न कोउ लाख॥
भक्त-अभक्त एक से निरखत, कहा होत गुन-गाएँ।
जैसेहिं खीर-खवाऐ तुम कों, वैसेहिं सींग-दिखाएँ॥
सबै धाँन बाईस-पसेरी, नित तोलन सों काँम।
बलिहारी, नहिं नेंकु बिदित तुम्हें, ऊँच-नीच कौ नाँम॥
बे पैंदी के लोटा के सम, तव मति-गति दरसावै।
कछु कौ कछु प्रभु काज-करन में, तुमहिं लाज नहिं आवै॥
जगत-पिता कहिवाइ भए तुम, अब ऐसे बे-पीर।
दिन-दिन दुगुन बढ़ावत जो नित, द्रोह-द्रोपदी चीर॥
जुग करि जोरि प्रार्थना येही, निज-माया धरि राखौ।
'सत्य, दीन-दुखियनु के हित कों, सदय-हृदय अभिलाखौ॥'

—हृदयतरंग

७२

नातरु—नहीं तो।

नातरु शब्दका सरल प्रयोग, यथा——

'चलौ इहाँ मग तजौ साँवरे, 'नातरु' गुलचा खैहौ।'

—मधुरअली

श्रीमाधव भट्टाचार्यजी अपने 'उद्धव दूत' महाकाव्यमें कहते हैं—

'धीनासंगाः शयनवसनस्नानपानाशनादौ
गायंत्यस्त्वच्चरितगुणिताः संततं गीतगाथाः।
औदासीन्यं किमपि सकलं बंधुवृंदे वहंत्यो
गोप्यो लीलाक्षितिषु भवतो योगिनीवद्भ्रमंति॥'

अर्थात् हे भगवन्, गोपियाँ शयन, वसन, स्नान, पान और भोजन आदि सम्पूर्ण विषयोंसे आसक्ति हटाकर निरन्तर आपके ही चरित्रोंसे चर्चित गीतोंको गातीं अपने बन्धु-जनोंके प्रति अति उदासीनता दिखाती हुई आपकी लीला-भूमि व्रजमें योगिनियोंके सदृश भ्रमण कर रही हैं।

कोई कवि कहता है——

'शीर्णा गोकुलमंडली पशुकुलं शष्पाय न स्पन्दते
मूका कोकिलसंहतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति।
सर्वे त्वद्विरहेण हन्त नितरां गोविंद दैन्यं गताः
किन्त्वेका यमुना कुरंगनयनानेत्रांबुभिर्वर्धते॥'

अर्थात् हे गोविन्द, आपके बिना गोप-बालकोंकी मंडली अस्त-व्यस्त—तितर-बितर हो गयी है, गौएँ घास-चरनेकी चेष्टा नहीं करतीं,

कोयलोंने बोलना छोड़ दिया है और व्याकुल मयूर अब आपके बिना नाचते नहीं, इस प्रकार आपके विरहसे सभी दीन और क्षीण हो रहे हैं, परन्तु एक यमुना ही मृग-लोचनी व्रजांगनाओंके रोदनके कारण आँसुओंसे निरन्तर बढ़ रही है।

श्रीसूर कहते हैं—

'रहत रैनि-दिन हरि-हरि-हरि-रट।
चितवत इकटक मग-चकोर-लौं, जब तें तुम बिछुरे नागर-नट॥
भरि-भरि नैंन-नीर ढारत हैं, स-जल करति अति कंचुकि के पट।
मनौं बिरह की सुरता-लगि लियौ नेंम, प्रेंम सिव-सीस सहस घट॥
जैसें तृन के अग्र ओस-कन, प्रॉंन रहत यौं अवधिहिं के तट।
'सूरदास' प्रभु मिलौ कृपा करि, जो दिन कढ़े तेऊ आए निकट॥'

'दिन-दस घोष चलौ गोपाल।
गायन के अवसेर मिटावौ, लेहु आपने ग्वाल॥
नाँचति नाहिं मोर ता-दिन तें, बोल न बाया-काल।
मृग दूबरे तिहारे दरस-बिन, सुनत न बेंनु-रसाल॥
हरयौ न होत अबै बृंदावन, भाव तनक न स्याँम तमाल।
'सूरदास' 'मैया' अनाथ है, बेग चलिए नँदलाल॥'
—सूरसागर

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

'नीकें सुनी स्याँम-सुजाँन।
कौंन मानें बात नीरस, सकल ब्रज रस-खाँन॥
'तुम रहे विधि-बेद-पढ़ता, प्रघट थी भगवाँन।
तुहि मनोहर मुरली थी, क्यौं न राख्यौ ध्याँन॥
कबहूँ तुम कौं लै मनायौ, ओढ़ि पीतनि-पाँन।
कबहूँ छुवायौ मुकुट चरनन, कियौ हन अब माँन॥

कबहुँ बेंनी गूँथि निज-कर, पग महावर सौंन।
कबहुँ ठाड़े जोरि-कर, करि दीन-चित-सनमौंन॥
प्रेम-भागी नैंम की कछु, चलत नाँहि निदाँन।
रिनी ह्वै छूटे वहाँ क्यों, नवल-'नागर' प्राँन॥'

—नागरसमुच्चय

सुकवि नंदरामजी कहते हैं—

'सीर समीरन की यह झूकनि, कैलिया-कूकनि क्यों सहि जाइगी।
कैसी बिहाल परी यह बाल, सखी-तन-तापन सौं दहि जाइगी॥
हाय कहू पुनि लागिहैं नाँहि, 'नँदराम' हिए की हिएँ रहि जाइगी।
हाक मिलौ नँदलाल न तौ, अँसुवान की धार-ही में बहि जाइगी॥'

—हजारा

निज कवि फर्माते हैं—

'नंद सुत नौहू उपनंद नाँउ जननी औ—
जसुमति, गोपी, ग्वाल, सखा सौ भरे रहैं।
गाय, बच्छ, पंछी, पसु, अँसुवा न सूखै दृग,
बेली, द्रुम, फल, पात मुरझि भरे रहैं॥
'मित्र जू' तिहारी एक आगम की आस ही पै
साँसन में प्रानै प्रान आँखन भरे रहैं।
आँखिन न खोलें, कछु मुखहू न बोलें-
तन तनक न डोलें सब मरे से परे रहैं॥'

पद्माकरजी कहते हैं—

'एहो नँद नंद, अरविंद-मुखी गोकुल की,
तुम बिन चंद चंद्रिकी को दीसी कहाँ।
कहै 'पद्माकर' पुकारे, पीरे रंग हूँ मैं-
फिर निर्मैन दैरी, दैरी दरसौं कहाँ॥

वृंदावन चंद जू की आगरी गली वे भली
नैननि के नीर तें नदी-सी ढरिबौ करें।
मिलि-बिछुरे ही त्यों ही बिछुर-मिलौगे फेरि-
याही एक आसा पै स्वाँसा भरिबौ करें॥'
—जगद्विनोद

चतुर्वेद उरदामजो कहते हैं—

'एहो बंक लोचन, बिलोकनि तिहारी तीखी
खुभी चित-बीचि की कसक हरिबौ करें।
अंतर दरज धुकि धौंकिनी धवनि मनौं-
मदन-सुनार घटराज गढ़िबौ करें॥
कहै 'उरदाम' तेरे गुँनन सँमान ही,
मेरे जौंन ताही के उफाँन परिबौ करें।
मिलि-बिछुरे ही त्यों ही बिछुर-मिलौगे फेरि-
याही एक आसा पै स्वाँसा-भरिबौ करें॥'
—गोपीप्रेमपियूषप्रवा

७३

कवि-द्वारा भगवत्-दशा वर्णन

गात—शरीर, गात्र, देह, तन, अंग।

'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः।
कायो देहः क्लीवपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः॥'
—अमरकोष २।६।७०, ७१

कलपतरोरुह—वृक्ष विशेष, स्वर्गका—देवताओंका एक वृक्ष, जिसके लिये कहा जाता है कि वह बिना माँगे सब कुछ देता है, अभिलषित—इच्छाके माफिक फल देनेवाला, सुरद्रुम*। उलहि—

* इच्छित फल देनेवाला।

उमड़कर, निकलकर, फूटकर, प्रस्फुटित होकर, फूलकर।

: कल्पतरोरुह शब्दका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता, अतः गात और उलहि शब्दोंके (अन्य) प्रयोग दिये जाते हैं, यथा—

'साँम-'गात' आँगन की सोभा, मंद हँसनि मेरौ जिय ललचावै।

—विष्णुदास

'आए 'उलहि' कंचुकी कुच कछु, सोभा कहत न आवै।'

—स्यामदास

कुछ ऐसी ही दयनीय दशाका वर्णन स्वर्गीय बाबू जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' ने भी किया है, जैसे—

'आए दौरि पौरि-लौं अवदि सुनि ऊधव की,
और ही बिलोकि दसा दग-भरि लेति हैं।
कहै 'रतनाकर' बिलोकि बिलखात उन्हें,
ए ऊ कर काँपत करेजैं धरि लेति हैं॥
आवति कछूक पूँछिबे औ कहिबे कौं मन,
परत न साहस पै दोऊ दरि लेति हैं।
आँनन उदास साँस-भरि उकसौंहैं करि
सौं करि नैननि निचौंहैं करि लेति हैं॥'

—उद्धवशतक

७४

उद्धव-प्रति भगवान्का प्रेमोपालम्भ

सचेत—स्वस्थ चित्त होकर, सावधान होकर, चौकस हो, मनको दौड़ा देकर, सचेत होकर। ल्यावन—लेने, लेनेको, लानेके लिये। आँनि—आकर। मो मैं—मुझमें। अंतर—पृथकता, भेद, विभिन्नता अलगाव, फर्क।

'अंतरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये ।
छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽतरात्मनि च ॥'
—अमरकोष ३ । ३ । १८७

तरंगनि—तरंगें, लहरें, पानीकी उछालें जो कि हवाके कारण उत्पन्न होती हैं,[1] हिलोरें ।

'भंगस्तरंग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचि अथोर्मिषु ।'
—अमरकोष १ । १ । ५

वारि—जल, पानी, नीर, अम्बु ।

'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम् ।
'पयः किलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् ।'
—अमरकोष १ । १ । ३

सचेत, ल्यावन, ऑनि, अंतर, तरंगनि और बारि शब्दके सुन्दर प्रयोग ।

'करि 'सचेत' लै नाम हरी कौ, जातें पाप नसाँहि ।'
—चरनदास

'अरजुन, भोज, सुबल, मधुमंगल, पठए 'ल्यावन' छाक ।'
—जनभगवान

''आँनि, लेहु तुम छाक आपनी, बालक, बल, बनवारी ।'
—परमानन्ददास

'दोऊ कूल खंभ, 'तरंगनि' सीढ़ी, जमुनाँ जगत बैकुंठ की निसैंनी ।'
—छीतस्वामी

'परसत 'बारि' सकल अघ भाजैं, ज्यों हरि-देखि हिरन की सिम्या ।'
—व्रजपति

'१. वायुना नद्यादिजलस्य तिर्यगूर्द्धगमनम् ।'
—शब्दकल्पद्रुम

श्रीसूरजी कहते हैं—

'ऊधौ, भली ग्यान समुझायौ।
तुम सो अब धौं कहा कहत हौ, मैं कहि कहा पठायौ॥
कहि आवत हौ बड़े चतुर, पै यहाँ न कछु कहि आयौ।
'सूरदास' ब्रज-बासिन को हित, हरि-हिय माँझ दुरायौ॥

'ऊधौ, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
वृंदावन, गोकुल तन आवत, सघन तृनन की छाँहीं॥
प्रात-समै माता जसुमति औ नंद देखि सुख पावत।
माखन-रोटी-दह्यौ सजायौ, अति हित सौं जु खवावत॥
गोपी, ग्वाल, बाल सँग खेलत, सब दिन हँसत सिरात।
'सूरदास' धनि-धनि ब्रज-बासी, जिन सौं हरि मुसिकात॥'

'ऊधौ, मोहिं ब्रज भूलत नाहीं।
हंस-सुता-कूलन की सोभा, अरु कदंब की छाँहीं॥
वह सुरभी, दधि, बच्छ, दोहिनी, खिरक-दुहावन जाँहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि-गहि बाँहीं॥
क्रीड़ा बहुत-भाँति हम कीन्हें, जसुमति-नंद निबाहीं।
जब-जब सुरति होत वा सुख की, [illegible]॥
ये द्वारिका रची जु कनक की, मनि-मुक्ता [illegible]।
'सूरदास' प्रभु सुमिरी-सुमिरी-सुख, करि-करि वो पछिताँहीं॥'

—सूरदास

उद्धव-प्रति भगवान्-द्वारा कहलाते हुए श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

'[illegible], [illegible] अब कहि बिसरत।
[illegible]
[illegible]
[illegible]

जदपि बिभौ ह्याँ अमरावति-सी, रह्यौ सकल सुख छाँइ।
तदपि सुधि आवत ब्रज की जब, तब सुधिकी सुधि जाइ॥
ऊधौ, परम प्रवीन सखा प्रिय, तुम बिन कासौं कहिये।
'नागरिदास' दुसह मन-ही-मन, बिरह-पीर नित सहिये॥'*

हमारे परम माननीय स्वर्गीय कवि नवनीतजी कहते हैं—

'उठि गई सिद्धता तिहारी उपदेस ही की,
बृद्धि भई भक्ति हिएँ भाव-भूरि भारे तें।
'नवनीत' सगुन सरूप जो समायौ जाइ,
निरगुन-बिसारि आयौ प्रीति उर धारे तें॥
उन हीं की ओर तें सिफारस करन लागौ,
भागि आयौ बिरह-दवागि-झर झारे तें।
जोग भरि पायौ औ वियोग भरि पायौ ऊधौ,
जीवत तू आयौ भैया, भागँन हँमारे तें॥'
'उद्धव बिकल बिलोकि कैं, लखि कुबजा अभिमाँन।
गोपिन-जुत दरसन दिए, नँद-नंदन भगवाँन॥'

तरंगनि-वारिपर एक सुमधुर सूक्ति और सुनिये, जैसे—

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥
—श्रीमद्शंकराचार्यकृतषट्पदी, ३

* उक्त भावपर 'आदिपुराण' की एक सुमधुर सूक्ति हमें भी याद आ गयी है, जैसे—

'न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव।
न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम॥'
—आदिपुराण

अर्थात्—ब्रह्मा, रुद्र, लक्ष्मी और स्वयं मेरी आत्मा भी मुझे उतनी प्रिय नहीं हैं जितनी कि गोपियाँ हैं।

अर्थात् हे नाथ, मुझमें और आपमें भेद न होनेपर भी मैं तो आपका ही हूँ, किंतु आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरंगें समुद्रकी होती हैं, तरंगका समुद्र नहीं।

७५

कवि-कथन

व्यामोहक (पाठांतर्गत)—मोह उत्पन्न करनेवाली, विमोहक, माया। जारी—जाली, परदा, माया। पुंजनी—देनेवाली; पूर्ण करनेवाली।* परिपूर्ण, ओत-प्रोत।

व्यामोहक, जारी और पुंजनी शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

'सकल लोक दिखराइ मात मुख, डारि दई 'व्यामोहक-जारी।'

—परमानन्ददास

'प्रेम-पुंजनी रस-मैं लीला, गावैं और सुनावैं।'

—वृन्दावनदास

॥ इति शुभम्॥

---

* श्रीनंददासजीके इस छंदमें—'प्रेम-रस-पुंजनी' के 'पुंजनीका अर्थ करते हुए श्रीवियोगी हरि और मजरत्नदासजी आदिने इसका अर्थ 'ढेरि, ढेर' या ढेरी माना है, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता। कारण, पुंज शब्द-से 'पुंजनी' नहीं बना है, अपितु यह क्रियाविशेष है—सकर्मक क्रिया है और इसका अर्थ जैसा कि ऊपर दिया गया है—होता है। उदाहरण भी मौजूद है, आगे भूल-चूक लेनी-देनी।

परिशिष्ट

॥ श्रीः ॥

परिशिष्ट ("क")

श्रीशुक उवाच

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ १ ॥
तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥ २ ॥
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥ ३ ॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥ ४ ॥

१—श्रीशुकदेवजी बोले—वृष्णियोंके सर्वश्रेष्ठ मंत्री, भगवान् कृष्णके प्यारे सखा और शरणागतोंके दुःख हरनेवाले बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य, अर्थात् परम बुद्धिमान् वा बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ उद्धवको भगवानने बुला और उनका हाथ अपने हाथमें ले तथा एकान्तमें ले जाकर बोले—हे उद्धव ! हे सौम्य (निर्मल) ! तुम व्रजको जाओ । वहाँ मेरे वियोग-पीड़ित पिता, माता और गोपियोंको मेरा संदेशा देकर उनके विरह-दुःखको दूर करो, क्योंकि इन गोपियोंका मन मुझमें ही लग रहा है और मेरे लिये ही उन सबने अपने देहके कृत्योंको छोड़ दिया है । उनकी तो बात ही क्या, जो कोई भी मेरे लिये लोक और धर्मका त्याग कर देता है उसका पालन-पोषण मैं ही करता हूँ ॥ १–४ ॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥ ५ ॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ।
प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् संदेशं भर्तुरादृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नंदगोकुलम् ॥ ७ ॥
प्राप्तो नंदव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥ ८ ॥
वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान् ॥ ९ ॥
इतस्ततो विलंघद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥ १० ॥

मैं उनका प्रियसे भी प्रिय हूँ, इसलिये मेरे विलग होनेसे वे गोकुलकी स्त्रियाँ—व्रजनारियाँ मुझे स्मरण कर-कर मोहित हो विरहकी उत्कण्ठासे विह्वल हो जाती हैं ॥ ५ ॥

वे बड़ी कठिनाईसे किसी प्रकार प्राणोंको रख केवल मेरे संदेश पानेकी अभिलाषासे ही जी रही हैं ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस प्रकार भगवान्‌के कहनेपर उद्धव गोपियोंसे संदेश कहनेके लिये रथपर बैठकर व्रजको चले ॥ ७ ॥

सूर्यास्तके समय लौटते हुए पशुओंकी खुररेणुसे रंजित रथद्वारा उद्धव, नंदके व्रजमें पहुँचे ॥ ८ ॥

वह व्रज पुष्पवती गौओंके लिये आपसमें लड़नेवाले मतवाले वृषभोंसे शब्दायमान थीं। गौएँ अपने स्तनोंके भारसे भारान्वित होते हुए भी अपने-अपने बछड़ोंपर दौड़ती थीं—उनको आलिंगनके लिये उनकी ओर जाती हैं। इधर-उधर दौड़ते हुए सफेद गौवोंके बछड़ोंसे सुशोभित व्रज गोदोहनके शब्दोंसे झंकरित और वंशी-ध्वनिसे प्लावित है ॥ ९-१० ॥

गायंतीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः।
स्वलंकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥ ११ ॥
अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥ १२ ॥
सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्।
हंसकारंडवाकीर्णैः पद्मषंडैश्च मण्डितम् ॥ १३ ॥
तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नंदः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥ १४ ॥
भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्यपृच्छत्पादसंवाहनादिभिः ॥ १५ ॥
कच्चिदंग महाभाग सखा नः शूरनंदनः।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः ॥ १६ ॥

और वह व्रज श्रीकृष्ण और बलरामद्वारा किये गये शुभ कर्मोंका गान करनेवाली सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत गोप-बाला और गोपोंसे सुशोभित है ॥ ११ ॥

वह व्रज अग्नि, सूर्य, अतिथि, गो, ब्राह्मण और पितृदेवताकी पूजाके धूप, दीप और मालासे सुशोभित गोपोंके घरोंसे बड़ा मनोहर है ॥ १२ ॥

चारों ओर फूले हुए वनोंसे सुशोभित पक्षी और भ्रमरसमूहोंसे शब्दायमान है और हंस, कारंडव (जलकुक्कुट) आदिसे युक्त पद्म-समूहसे मण्डित है ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय अनुचर उद्धवको [illegible] देखकर श्रीनंद बाबा अति प्रसन्न हुए और उनका आलिंगन कर [illegible] न किया ॥१४॥

रातमें भोजनसे [illegible] नंद बाबा [illegible]

[illegible] हमारे मित्र-शूर-पुत्र [illegible] हैं ? ॥ १६ ॥

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ॥ १७ ॥
अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।
गोपान्व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥ १८ ॥
अप्यायास्यति गोविंदः स्वजनान्सकृदीक्षितुम् ।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥ १९ ॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः ।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥ २० ॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापांगनिरीक्षितम् ।
हसितं भाषितं चांग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥ २१ ॥
सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुंदपदभूषितान् ।
आक्रीडानीक्ष्यमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥ २२ ॥

पापी कंस अपने भाइयों के साथ अपने पापद्वारा मारा गया, अच्छा हुआ, क्योंकि वह सदा धर्मशील और साधु यादवोंसे द्वेष करता था। ॥ १७ ॥

क्या कृष्ण, अपनी माता और सुहृद् सखाओंके साथ हमारी गौओं, गोपों और अपने द्वारा रक्षित व्रज, वृंदावन तथा गोवर्धनको कभी याद करते हैं ? ॥ १८ ॥

हे उद्धव ! क्या गोविंद अपने जनोंको देखने यहाँ (व्रजमें) आयेंगे । क्या फिर हम उस सुन्दर नासिका और नेत्रोंवाले हँसते हुए मुखको देखेंगे ॥ १९ ॥

क्योंकि, दावानल, पवन, वर्षा, अरिष्टासुर और कालियसर्पसे उसने हमारी रक्षा की है । बड़ी-बड़ी मृत्युओंसे भी उस सुहृद् आत्मा कृष्णने हमारी रक्षा की है ॥ २० ॥ श्रीकृष्णके चारु चरित्र, उनके लीला-सहित नेत्रोंसे कटाक्षमय देखना, उनका हँसना, बोलना, ये सब स्मरण करनेसे हमारी क्रियाएँ—आंगिक कर्म सब शिथिल हो जाते हैं॥ २१॥ नदी, पर्वत और वनके वे प्रदेश—स्थल विशेष, जो मुकुंद भगवान्‌के पदोंसे सुशोभित हैं, अथवा जहाँ वह खेले हैं, देखनेसे हमलोगोंके मन कृष्ण-मय हो जाते हैं॥२२॥

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥ २३ ॥
कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा ।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥ २४ ॥
तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ।
बभंजैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम् ॥ २५ ॥
प्रलंबो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया ॥ २६ ॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नंदः कृष्णानुरक्तधीः ।
अत्युत्कंठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥ २७ ॥
यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा ॥ २८ ॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नंदयशोदयोः।
वीक्ष्यानुरागं परमं नंदमाहोद्धवो मुदा ॥ २९

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥ ३०

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुंदः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥३१

यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥३२

तस्मिन्भवंतावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥३३

बाबा नंद और यशोदाका भगवान् कृष्णके प्रति इस प्रकारका अनुराग देख, उद्धव बड़े आनंदको प्राप्त हो बाबा नंदसे बोले ॥२९॥

उद्धव बोले, हे मानद (प्रतिष्ठा करने योग्य) ! यह बात निश्चय है कि आप और माँ यशोदा दोनों बड़ी सुंदरश्लाघा (स्तुति) के योग्य हो, क्योंकि आप लोगोंने सब लोकोंके गुरु नारायणके प्रति इस प्रकार बुद्धि लगायी है ॥ ३० ॥

ये राम और कृष्ण दोनों वीर्य और योनि होनेसे संसारके उपादान और निमित्तके कारण हैं। प्रकृति और पुरुष इन दोनोंके ही आधीन हैं, ये दोनों पुराण पुरुष हैं, जो सब भूतोंमें प्रविष्ट हो विलक्षण ज्ञानका नियमन करते हैं ॥ ३१ ॥

जिन कृष्णके प्रति पुरुष प्राण-वियोगके समय क्षणमात्र भी निर्मल मन लगाये तो शीघ्र ही कर्म-वासनाओंको दूर कर और दिव्य ज्ञानी बन सूर्य-सा प्रकाशित हो परमगति वैकुंठको पाता है ॥ ३२ ॥

हे महात्मन्! यद्यपि सब संसारके हेतु भक्तोंके पावन प्रेमके कारण मार्यरूप (मनुष्यरूप) धारण करनेवाले श्रीनारायणके प्रति आप लोगोंने ऊँची भावना की है, उसमें आपकी अब कौन-सी कमनीय कामना बाकी रही ॥३३॥

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ३४ ॥
हत्वा कंसं रंगमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥ ३५ ॥
मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥ ३६ ॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा ॥ ३७ ॥
न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥ ३८ ॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥ ३९ ॥

तथापि सात्वतों (यादवों) के पति अच्युत भगवान् थोड़े ही दिनमें व्रज पधारेंगे और आप लोगोंको सुख देंगे ॥ ३४ ॥

क्योंकि, रंगभूमिमें यादवोंके शत्रु कंसको मारकर जो कुछ आपसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा है, उसे वे अवश्य ही सत्य करेंगे ॥ ३५ ॥

हे महाभाग! आप खेद न करें, क्योंकि श्रीकृष्णको आप अपने पास अवश्य ही देखेंगे। वे तो सब भूतोंके हृदयमें इस प्रकार विराजमान हैं, जिस प्रकार लकड़ीके भीतर अग्नि रहती है ॥ ३६ ॥

यथा, वे मान-रहित हैं, उनका कोई प्रिय और अप्रिय नहीं है, सबको समान मानते हैं, इसलिये उनके कोई उत्तम और मध्यम नहीं हैं ॥ ३७ ॥

उनके न कोई माता है, न पिता है, न भार्या है और न सुतादि ही हैं। उनके न कोई अपना है और न पराया, न देह है, न जन्म है ॥ ३८ ॥

यद्यपि इन सत्-असत् मिश्रित योनियोंमें उनका कोई भी कर्म नहीं है, तथापि साधुओंकी रक्षाके लिये वे क्रीडामें प्रवृत्त होते ही हैं ॥ ३९ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ ४० ॥
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्त्तैवाहंधिया स्मृतः ॥ ४१ ॥
युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥ ४२ ॥
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३॥
एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नंदस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ४४

वे गुण-रहित होकर भी सत्त्व, रज और तमादि गुणोंको भजते हैं, क्रीड़ा करते हैं तथा संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके कारण होते हैं॥ ४० ॥

जिस प्रकार घूमते हुए पुरुषको दृष्टिमें पृथ्वी भी घूमती हुई नजर आती है, उसी प्रकार आत्माका जो अहमर्थ—मैं-पना है, उसको चित्त देहादिकमें आरोपकर आत्मा देहादिको कर्त्ता मानता है ॥ ४१ ॥

भगवान् हरि, केवल आपके ही पुत्र नहीं हैं, अपितु वे सबके पुत्र, आत्मा, पिता और माता हैं अस्तु, वे ईश्वर हैं ॥ ४२ ॥

जगत्में जो दृष्टव्य (देखने लायक) या श्रुत (सुना जानेवाला) भूत या भविष्यत्, स्थिर या चर, छोटा या बड़ा जो कुछ भी है, यह सब उस अच्युतमय है । उनके बिना कुछ भी नहीं है, इसलिये वे ही परमार्थ होनेसे सर्वमय हैं ॥ ४३ ॥

श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित्से बोले कि राजन, बाबा नंदसे कृष्ण-दास उद्धवको इस प्रकार कहते-कहते ही वह रात्रि क्षणके समान व्यतीत हो गयी, प्रातःकाल मत गोपियाँ उठीं और नित्यकर्मके अनन्तर दिया जलाकर विधि-सहित वास्तुदेवोंका पूजन कर दधि मथने लगीं ॥ ४४ ॥

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकंकणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुंडलत्विषत्कपोलारुणकुंकुमाननाः ॥ ४५ ॥
उद्गायतीनामरविंदलोचनं व्रजांगनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममंगलम् ॥४६॥
भगवत्युदिते सूर्ये नंदद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौंभं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥ ४७ ॥
अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥ ४८ ॥
किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रीतस्य निष्कृतिम् ।
इति स्त्रीणां वदंतीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

राजन्! उनके मणिजटित आभूषण दीपसे प्रकाशित होनेके कारण बड़े सुन्दर दिखलायी पड़ने लगे। दधि-मंथनके समय रम्य-रज्जुके आकर्षणसे —बार-बार खींचनेसे, उनकी भुजा, कंकण, माला, नितंबदेश, कटिभाग, स्तन, हार और कुण्डल सब चंचल होने लगे। उनका कुंकुम-मंडित-मुख अरुण होनेके कारण विशेष सुन्दर लगने लगा ॥ ४५ ॥

कमल-लोचन भगवान्‌के चारु चरित्र गान करनेके कारण व्रज सुन्दरियोंकी जो रसपूर्ण मंजुल-ध्वनि उत्पन्न हुई वह दधि-मंथनकी सुन्दर स्वर-लहरीके साथ मिलकर आकाशमें फैल गयी, जिससे दसों दिशाओंका अमंगल नाश होने लगा ॥४६॥

जब सूर्योदय हुआ तो व्रज वासी बाबा नंदके द्वारपर खड़े सुंदर रथको देखकर आपसमें पूछने लगे कि यह 'रथ' किसका है ॥ ४७ ॥

क्या अक्रूर फिर आया है! जो कंसकी अर्थ-सिद्धिके लिये हमारे प्यारे कमल-लोचन कृष्णको मधुरा ले गया था! ॥ ४८ ॥

क्या, अब हमारे प्राण-रहित शरीरसे यह अपना कोई अन्य अभीष्ट कार्य सिद्ध करना चाहता है ! इस प्रकार स्त्रियोंके कहने-सुननेमें ही श्रीउद्धव स्नान-संध्यादि कर वहाँ (नंदके घर) आ गये ॥ ४९ ॥

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलंबबाहुं नवकंजलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविंदं मणिमृष्टकुंडलम्॥ १॥
शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदांबुजाश्रयम्॥२॥
तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः॥३॥
जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया॥ ४॥

श्रीशुकदेवजी बोले—राजन्! नवीन कमलके समान नेत्रवाले, आजानुबाहु, पीताम्बरधारी, कमल-मालिकाओंसे युक्त और मणि-जटित कुंडलोंसे शोभायमान मुखवाले भगवान्‌के अनुचर (उद्धव) को गोपियोंने देखा, ब्रजकी स्त्रियोंने उन्हें निहारा॥ १॥

उत्तमश्लोक भगवान्‌के चरण-कमलके आश्रयमें रहनेवाले उद्धवकी अच्युत-जैसी ही वेश-भूषा देखकर गोपियाँ विस्मयके साथ आपसमें पूछने लगीं कि यह मनोहर हासवाला कौन है? कहाँसे आया है? आदि कहती हुई उत्कंठा-वश उनको चारों ओरसे घेर लिया॥ २॥

जब गोपियोंने जाना कि ये प्रिय कृष्णके सखा हैं और उनका संदेश लेकर आये हैं, तब विनम्र हो लज्जावश कुछ-कुछ मुस्कराती तथा कटाक्षमय मधुर वचनों-द्वारा उनका सत्कार करती हुई, एकान्तमें ले जाकर उत्तम आसनपर उन्हें बैठाया और पूछने लगी॥ ३॥

गोपी बोलीं कि हम आपको जानती हैं कि आप यदुपतिके पार्षद (पासमें रहनेवाले, मंत्री, मीर मजलिस) हो और आपको आपके स्वामीने माता-पिताकी प्रसन्नताके निमित्त भेजा है। इसीलिये आप यहाँ आये हैं॥ ४॥

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥
अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडंबनम्।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्विव षट्पदैः ॥ ६ ॥
निःस्वं त्यजंति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७ ॥
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥ ८ ॥

नहीं तो हम गौओंके व्रजमें अब उनकी प्यारी ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दिखलायी पड़ती जो उन्हें यहाँकी याद दिलाये, परंतु हाँ, जिनके स्नेह-बन्धनमें बँधकर आपको यहाँ उनकी प्रसन्नतार्थ भेजा है सो ठीक ही है, क्योंकि स्नेहका श्रेष्ठ बन्धन मुनियोंसे भी कठिनतासे तोड़ा जाता है ॥५॥

जो अपने नहीं हैं, उनसे मतलब निकल जाने तककी ही मित्रता होती है—रहती है, जब प्रयोजन सिद्ध हो गया तब मित्रता कैसी! उदाहरणरूपमें अन्य स्त्रियोंके साथ पुरुषोंकी, अथवा नवविकसित फूलोंके साथ भौंरेकी (जैसी) मित्रता रखी जा सकती है ॥ ६ ॥

धनहीन पुरुषको वेश्या, असमर्थ राजाको प्रजा, विद्या पढ़ लेनेपर अध्यापकको विद्यार्थी, यजमानसे दक्षिणा ले लेनेके बाद ऋत्विज (यज्ञ करानेवाला), फल बीतनेपर पेड़ (वृक्ष) को पक्षी, भोजनके अनन्तर अतिथि, जल जानेके बाद वनको मृग, भोगे पीछे प्रेमस्वरूपा परस्त्रीको जार पुरुष छोड़ देते हैं, इसमें क्या कहना और सुनना ॥ ७ ॥

अथवा जिस प्रकार फलरहित वृक्षको पक्षी, भोजनके अनंतर जिस प्रकार अतिथि घरको, जले हुए वनको जिस प्रकार मृग और भोगके पश्चात् जिस प्रकार जार पुरुष स्त्रीको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार हमको छोड़ दिया ॥ ८ ॥

इति गोप्यो हि गोविंदे गतवाक्कायमानसाः ।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९ ॥
गायंत्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः ।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥ १० ॥
काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायंती कृष्णसंगमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांघ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः ॥
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडंब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ १२ ॥

इस तरह मन, वचन और शरीरसे गोविंदमें आसक्त गोपियोंने भगवान् कृष्णके दूत उद्धवको व्रजमें पाकर—उनके साथ संभाषण करते हुए अपने सब लौकिक कर्मोंको छोड़ दिया ॥ ९ ॥

पहिले वे अपने प्रियके कर्मों (कार्यों) को गान करने लगीं और फिर उनके बाल और किशोरावस्थामें किये गये कर्मोंको याद करके लज्जा छोड़ रुदन करने लगीं ॥ १० ॥

कृष्ण भगवान्के सुसंगमका ध्यान करती हुई वे गोपियाँ, किसी मधुकरको देख और उसे अपने प्रियका दूत मानकर कल्पना कर, यह कहने लगीं ॥ ११ ॥

गोपियाँ बोलीं कि हे मधुप ! तुम कपटीके मित्र हो, अतः हमारे चरणोंका स्पर्श न करो, क्योंकि तुम सौतके स्तनोंपर विलुलित मालाके कुंकुम) को लगा लाये हो । अरे, ऐसे मानिनीके उत्पादक प्रसादको वे (श्रीकृष्ण) ही धारण करने लायक है, यही इस प्रसादको पाकर हँसने लायक है, जिसका कि तू दूत बना है ॥ १२ ॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥ १३ ॥
किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥ १४ ॥
दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥ १५ ॥

अपनी मोहनेवाली अधर-सुधा एक बार पान कराकर इन्होंने हमें छोड़ दिया, जिस तरह तुम विभिन्न पुष्पोंका रस लेकर तुरत (उन्हें) छोड़ देते हो। अहो, उनके चरणकमलोंकी सेवा लक्ष्मी करती हैं! मालूम होता है कि वह उन उत्तमश्लोक (भगवान्) के वचनों द्वारा चित्त चुराये जानेके कारण ही सेवा करती हैं ॥ १३ ॥

हे षट्पद! [illegible]

[illegible]

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुंदात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेता किं नु संधेयमस्मिन् ॥ १६ ॥
मृगयुरिव कपींद्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वांक्षवद्य—
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥ १७ ॥
यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्—
सकृददनविधूतद्वंद्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहंगा भिक्षुचर्यां चरंति ॥ १८ ॥

हमारे पैरोंपरसे अपने शीशको हटा, हम तेरी यह चाटुकारता—चापलूसी खूब जानती हैं। अरे! यह कपट-विनयसे भरी दूतता तो तूने मुकुंदहीसे न सीखी है? हाय, जिसके लिये हमने अपने पति, पुत्र और लोकको छोड़ा, वही अकृतज्ञ तथा चंचल-चित्त, हमें त्यागकर चला गया। क्या ऐसेके पास फिर हम जायँ ॥ १६ ॥

जिस लुब्धधर्माने व्याधकी तरह वानरराज (बाली) को वेधा—मारा, स्त्रीके वश होकर कामनी एक स्त्रीको विरूप किया और बलिकी दी हुई भेंट लेकर भी काककी तरह (उसे) बाँधा, हाय, ऐसे कालेकी प्रीति बड़ी बुरी है, अत्यंत निकृष्ट है, पर छोड़ी नहीं जाती ॥ १७ ॥

जिनका अमृतमय लीला-चरित्र जरा-सा भी किसीके कान पड़ जाय, तो वह रागद्वेषादि द्वन्द्वधर्मोंको नष्ट कर अकिंचनरूपसे अपने दीन कुटुंबको त्याग देता है और संसारसे दुखी हो आप भी दीन बना पक्षियोंकी तरह अपना ही पेट पालता हुआ भिक्षुककी भाँति इधर-उधर मारा-मारा फिरने लगता है, अतएव ऐसी कथा जिसके सुननेसे यह गति हो, सुनना ठीक है ॥ १८ ॥

यदमृतमिव जिह्म व्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमंत्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ॥१९॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुंधे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वंद्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥२०॥

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्यबन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगंधं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥२१॥

जैसे काले कपटी व्याधके सुमधुर गानपर भरोसा कर हरिणी बँध जाती —मारी जाती है, उसी प्रकार हम भी उन (कृष्ण) की छल-कपट वार्तो-सत्य मान लुभा गयीं । अतएव उनके द्वारा बारंबार किये गये नख-क्षतोंके लिये हमको बड़ी काम पीड़ा होती है, इसलिये हे दूतोंमें श्रेष्ठ ! उन (कृष्ण) की चर्चा छोड़कर अन्य बातें कर ॥ १९ ॥

हे प्रियके सखा ! अरे, तू जाकर फिर आया ! क्या प्यारेने तुझे (हमें) अपने बुलानेको फिर भेजा है ! प्रिय ! तुम हमारे माननीय हो, अतः जो इच्छा हो माँगो ! जिनका संग दुस्त्यज्य है—जिनके संगको पुर-स्त्रियाँ छोड़ना चाहतीं, उन (कृष्ण) के पास हमें फिर क्यों ले चलना चाहते हो ! सौम्य ! हमने यह (कृष्ण) फिर न रहागा जायगा, इसलिये उनके पास न ले चलो ! फिर वह लक्ष्मी तो उनके हृदयमें सदा रहती ही है—रहती ही है ॥ २० ॥

हे सौम्य ! क्या आर्यपुत्र इस समय मथुरामें हैं ? वे पिताके घरको, बन्धुओं और गोपोंको याद करते हुए कभी हम दासियोंकी कथा भी करते हैं ? हाय, अगर (चंदन) से अलंकृत—सुगन्धित भुजाको कब हमारे सिरपर आ कब रखेंगे ? ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः।
सान्त्वयन्प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥ २२

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥ २३
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥ २४
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥ २५
दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च।
हित्वावृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥ २६

श्रीशुकदेव बोले कि उद्धव, कृष्ण दर्शन-लालसासे उल्लसित गोपियों को इस प्रकार करते सुनके देख, उन (गोपियों) को प्रियके संदेशों सांत्वना देते हुए यह बोले ॥ २२ ॥

उद्धव बोले कि जिनके वासुदेव भगवान्में इस प्रकार मन अर्पि हो गये हैं—लग गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये, फिर वे लोक पूजित क्यों न हों ? ॥ २३ ॥

दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और संयम आदि जितने भी श्रेयस्कर धर्म हैं, उन सबसे श्रीकृष्ण भगवान्‌की भक्ति सिद्ध की जाती है— प्रतिपादित की जाती है ॥ २४ ॥

इन्हों (गोपियों) ने उत्तम श्लोक भगवान्‌के प्रति बहुत उत्तम भक्ति की है, जो मुनियोंको भी दुर्लभ है ॥ २५ ॥

पति, पुत्र, देह, स्वजन और घर—इन सबको छोड़कर, इन्होंने उस परम पुरुष श्रीकृष्णको वरा—चाहा, जो बड़ा सुन्दर है ॥ २६ ॥

सर्वात्मभावोऽधिगतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २७ ॥
श्रूयतां प्रियसंदेशो भवतीनां सुखावहः ।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ॥ २९ ॥
तथाहं च मनःप्राणभूतेंद्रियगुणाश्रयः ॥२९-२॥
आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेंद्रियगुणात्मना ॥ ३० ॥

आप सबका उन अधोक्षज भगवान्में विरहके कारण आत्मभाव हो गया —हर समय उन्हें अपने पास देखती हो, अतः हे महाभागो! तुमने मुझपर [बड़]ा अनुग्रह किया ॥ २७ ॥

अब आप सुखके देनेवाले अपने प्रियके संदेशोंको सुनें। हे मंगल-[का]रिणियो! इसीके लिये मैं यहाँ आया हूँ और इसी कार्यके लिये मेरे [स्वा]मीने मुझे यहाँ भेजा है ॥ २८ ॥

भगवान्ने कहा है कि हमारा और तुम्हारा किसी तरह, किसी समय, [कह]ीं भी और कहींपर भी वियोग नहीं है। जिस प्रकार आकाश, वायु, [अग्]नि, जल और पृथ्वी-आदि पंचभूतोंका, इन पंच-भूतोंसे बने शरीरधारी [प्राणि]योंसे नहीं होता ॥ २९ ॥

उसी प्रकार मैं भी मन और प्राणसे भूतेन्द्रिय-गुणोंका आश्रय होकर [रह]ता हूँ, अर्थात् उनसे मैं पृथक् नहीं हूँ ॥ २९-२ ॥

मैं दिव्य-ज्ञान-संकल्पके प्रभावसे भूत-इन्द्रिय-गुणोंके, उनका रूप [धर]कर अभिन्न जगत्को, पृथक् शरीर होनेके कारण माया द्वारा सृजता —बनाता हूँ, पालन करता हूँ, अर्थात् रक्षा करता हूँ और नाश [कर]ता हूँ ॥ ३० ॥

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥ ३१ ॥
येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥ ३२ ॥
एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥ ३३ ॥
यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥ ३४ ॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
स्त्रीणां च न तथा चेतः संनिकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥ ३५ ॥

आत्मा तो ज्ञानमय होनेके कारण शुद्ध स्वरूप है—पृथक् है और गुणोंसे रहित है—अद्वय है। अतः माया और प्रकृतिसे सम्बन्ध होनेके कारण (वह) जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप अवस्थाओंमें प्रकाशित होता रहता है ॥ ३१ ॥

जैसे मनमें स्वप्नके अनंतर स्वप्न-जनित विषयोंका अनित्य-ज्ञान बना रहता है, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थामें मन द्वारा इंद्रिय-जनित विषयोंका बोध, ध्यान बना रहता है—होता रहता है, अतएव उस अवस्थामें मनको रोकनेपर सावधान होनेके कारण मेरे स्वरूपको जानने लगता है ॥ ३२ ॥

बस, इस प्रकार मनका रोकना ही समस्त विद्वानोंका अभिमत है। यही वेदार्थ है, यही योग है, यही सांख्य है, यही शम-दम है और यही सत्य है, क्योंकि नदियोंकी समाप्ति—अंत, समुद्रमें ही तो होती है ॥ ३३ ॥

मैं तुम्हारी दृष्टिका प्रिय विषय बन इसलिये दूर रहता हूँ कि तुम्हारा मन एकाग्र हो जाय, क्योंकि एकाग्र मन होनेपर ही मेरा ध्यान होगा, मन स्थिर होनेपर ही मेरे ध्यानकी कामना होगी ॥ ३४ ॥

जैसा, प्रियतमके दूर रहनेके कारण स्त्रियोंका मन (उसमें) लगा रहता है, आकर्षण बना रहता है, वैसा मन पासमें—सामीप्यमें, नेत्रोंके आगे होनेके कारण नहीं लगता ॥ ३५ ॥

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥ ३६ ॥
या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥ ३७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्संदेशागतस्मृतीः ॥ ३८ ॥

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।
दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ॥ ३९ ॥
कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥ ४० ॥

अतः सब वृत्तियोंसे रहित हुए एकाग्र मनको मुझमें लगानेसे मेरा ध्यान करने और स्मरण करनेसे थोड़े ही समयके अनन्तर मुझको मिलोगी ॥ ३६ ॥

हे कल्याणियो ! व्रजमें रहते—रहते हुए जो वनमें रात्रिके समय (मैंने) क्रीड़ा की, जिनके साथ अनेकानेक रास किये, उनके अतिरिक्त जो और अलब्धरास हैं वे मेरे पराक्रमका चिन्तन कर मुझे पा गयीं ॥ ३७ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि राजन्, गोपियाँ प्रियतमके शुभसंदेशको इस प्रकार सुन और उस संदेशसे जिनका स्मरण होनेसे, बड़ी प्रसन्न हो उद्धवसे कहने लगीं ॥ ३८ ॥

गोपियाँ बोलीं कि, यदुवंशको दुःख देनेवाला कंस मारा गया यह सुन्दर हुआ । अब सर्वार्थ सिद्ध हुए, अर्थात् पूर्ण मनोरथी अपने मित्रोंके साथ अच्युत इस समय कुशल हैं, बहुत सुन्दर है ॥ ३९ ॥

हे सौम्य ! गदाग्रज क्या पुर स्त्रियोंकी स्निग्ध लज्जायुक्त हास्य और उदार कटाक्षोंसे पूजित होकर क्या हमारी प्रीतिको करते भी हैं ! ॥ ४० ॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः ॥ ४१ ॥
अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।
गोष्ठिमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथांतरे ॥ ४२ ॥
ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
र्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या—
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥ ४३ ॥
अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।
संजीवयन्नु नो गात्रैर्यथेंद्रो वनमंबुदैः ॥ ४४ ॥
कस्मात्कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः ।
नरेंद्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥ ४५ ॥

वह रति विशेषज्ञ होनेके कारण सुन्दर स्त्रियोंका प्रिय, पूजित होकर उनके सुन्दर वाक्योंमें भूल कैसे न बँध जायगा ! अर्थात् अवश्य बँध जायगा ॥ ४१ ॥

हे साधु! कभी पुरस्त्रियोंके समूहमें प्रवृत्त (आसक्त) गोविंद, अपनी इच्छित कथाओंमें प्रसंगानुसार हम मामर्णयों-गँवारियोंको भी वे याद करते हैं ॥ ४२ ॥

वे (श्रीकृष्ण) कभी कुमुद, कुंद और इंदु तथा चंदनसे सुशोभित वृन्दावनकी उन रम्य-रात्रियोंका भी स्मरण करते हैं, जिनमें हम प्यारियोंके साथ चरण-नूपुर ध्वनिसे परिपूर्ण रास रचा था और जिसमें हमने उसकी मनोहर कथा गायी थीं ॥ ४३ ॥

वे दाशार्ह, अभी यहाँ आकर हमारे संतप्त गात्रको, जिस प्रकार मेघ वनको शीतल करता है, उसी तरह अपने अंगोंसे शीतल करेंगे ? ॥ ४४ ॥

कृष्ण यहाँ क्यों आयेंगे ! उन्होंने अपने शत्रुको मार लिया, उसका राज्य भी ले लिया, राजकन्याओंके साथ विवाह कर लिया और अपने सुहृदोंको पा भी लिया ॥ ४५ ॥

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥ ४६ ॥
परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला ।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥ ४७ ॥
क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम् ।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४८ ॥
सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।
संकर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥ ४९ ॥
पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत ।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥ ५० ॥

वह आत्माराम, अर्थात् पूर्णकाम महात्मा, हम जंगली स्त्रियोंसे अथवा अन्य स्त्रियोंसे कृतकृत्य हो सकेगा ? कुछ कार्य साध सकेगा ? क्योंकि वह लक्ष्मीका पति है ॥ ४६ ॥

निराशा बड़ी सुखद है, यह स्वैरिणी (वेश्या) पिंगलाने कहा था और इसे हम भी जानती हैं, फिर भी कृष्ण प्रति हमारी दुरत्यया (दुस्तरसे दुस्तर) आशा नहीं छुटती,—नहीं छुटती ॥ ४७ ॥

इन उत्तम श्लोक द्वारा की बातें किससे छोड़ी जावेंगी,—जिनको लक्ष्मी छोड़ती, क्योंकि (उनकी) बातोंसे आनन्द हमको उनके न चाहनेपर भी (उनका) संग छोड़ना नहीं चाहती ॥ ४८ ॥

हे प्रभो, श्रीकृष्णने यमुना नदी, गोवर्धन गिरि और वनोंके इन प्रदेशोंमें बलदेवके साथ बहुत चरित किये हैं ॥ ४९ ॥

वे सब स्थान (जहाँ कहीं उन्होंने क्रीड़ा की थी) नन्दगोपसुतको बार बार याद कराते हैं और हम भी लक्ष्मीनिकेत (पद) के उन चरण चिह्नोंको (नदी, शैल और वनोंमें) देखकर उनको भूल नहीं सकतीं [illegible]

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे ॥ ५१ ॥
हे नाथ ! हे रमानाथ !! व्रजनाथार्तिनाशन ।
मग्नमुद्धर गोविंद गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥ ५२ ॥

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥ ५३ ॥
उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः ।
कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम् ॥ ५४ ॥
यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ॥ ५५ ॥

उनकी मनोहर चाल, सुन्दर हँसी—उदार हास, कौतुकसहित देखना और मधुर बोलना हमारे हृदयोंमें बस रहा है,—रम रहा है, हम उन्हें कैसे भूलें ॥ ५१ ॥

हे नाथ, हे रमानाथ, हे व्रजनाथ, हे आर्तनाशन (दुःखोंसे छुड़ानेवाले), हे गोविंद, तुम्हारे विरह-दुःख-समुद्रमें डूबे हुए व्रजका शीघ्र उद्धार करो ॥ ५२ ॥

श्रीशुक बोले कि गोपियोंने इस प्रकार कहने और सुननेके अनंतर श्रीकृष्णके संदेशोंसे अपने दुःखोंको कुछ कम कर, उद्धवकी आत्माको अधोक्षज भगवान्‌की आत्मासे भिन्न—पृथक् न मान उन (उद्धव) का पूजन किया ॥ ५३ ॥

और उद्धव भी, श्रीकृष्ण-लीलाकी कमनीय कथाओंके निरंतर गान-द्वारा गोपियोंका शोक-शमन करते हुए गोकुलमें कितने ही दिन विरमे रहे ॥ ५४ ॥

उद्धव, श्रीनंदबाबाके व्रजमें जितने भी दिन रहे । वे दिन श्रीकृष्ण-की निरंतर बात-चीत होनेके कारण क्षण-समान व्यतीत हो गये ॥ ५५ ॥

सरिद्वनगिरिद्रोणीवीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।
कृष्णं संस्मारयन्रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥ ५६ ॥

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७ ॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५८॥

वे यमुना नदी, गिरिकुंजादि, वन, गोवर्धनगिरिकी कंदरा और प्रफुल्लित वृक्षोंको जिनमें भगवान् श्रीकृष्णने क्रीड़ाएँ कीं, दर्शन करते-कराते श्रीकृष्णकी याद दिलाते रहे ॥ ५६ ॥

उद्धव, गोपियोंकी श्रीकृष्णमें आतंरिक अत्यंत आसक्तिके कारण उत्पन्न विपुल विकलताको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें (गोपियोंको) नमस्कार कर इस तरह बोले ॥ ५७ ॥

इस पृथ्वीपर शरीरको धारण करनेवाले जीवोंमें इन गोपवधूटियोंका जन्म ही धन्य है—इनका जन्म लेना ही सार्थक है, क्योंकि इन्होंने सबके आत्मा श्रीगोविन्दमें अपने सब कर्ति-भाव * [illegible] भाव स्थापित किये हैं जिन्हें कि संसारसे विरक्त, [illegible] मुनि और साधकके लिए, आनन्द हम सब चाहते हैं । अतः [illegible] ब्रह्मजन्मोंका [illegible] वैसा ही कुछ विशेष कारण नहीं है—प्रयोजन नहीं है ॥ ५८ ॥

* [illegible]

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥
नायं श्रियोऽङ्ग उ नितांतरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगंधरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकंठ—
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजवल्लवीनाम् ॥६०॥
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ६१ ॥

अहो, कहाँ ये व्यभिचार-दृष्टिसे दूषित वनचरियाँ और कहाँ इनका परमात्मा श्रीकृष्णमें रूढ़ि-भाव—प्रेमाशक्ति ! कोई भी अज्ञानी हो और किसी जातिका क्यों न हो, ईश्वरसे प्रेम करनेपर उसका कल्याण होता ही है। जिस प्रकार अमृतके गुणको न जाननेवाला उसका सेवन करनेसे अमर हो जाता है ॥ ५९ ॥

भगवान्से नितान्त प्रेम (अत्यन्त प्रेम) करनेवाली लक्ष्मी और कमलगंध जैसी कान्तिवाली देव-कन्याएँ, निरंतर संगमें रहकर भी वह प्रसन्नता और प्रसाद न पा सकीं, जिसे कि रासोत्सवमें श्रीकृष्णकी भुजाओंसे आलिंगन कर व्रज-सुन्दरियोंने पाया था ॥ ६० ॥

यदि मैं, गोपियोंकी चरण रज सेवन करनेवाली वृन्दावनकी गुल्म लता और ओषधि ही बन जाऊँ—तो मेरा जन्म सफल हो जाय, क्योंकि इन्होंने (त्यागे न छोड़े जानेवाले) दुस्त्यज स्वजनोंको और आर्य श्रेष्ठ पथका त्याग कर श्रुतियों भी जिसे ढूँढनेमें असमर्थ हैं ऐसे श्रीमुकुंद भगवान्को भजा है—पाया है ॥ ६१ ॥

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ६२ ॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ६३ ॥

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥ ६४ ॥
तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नंदादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥ ६५ ॥

इन गोपियोंने लक्ष्मी, आप्तकाम ब्रह्मा और शिव-द्वारा पूजित भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका जिन्हें कि योगेश्वर सदा अपने अन्तःकरणमें ध्यान धरा करते हैं, रास-गोष्ठीके समय अपने स्तनोंपर रख और उनसे आलिंगन कर (अपने) पापोंका नाश किया था ॥ ६२ ॥

मैं, इन नंद-व्रज-स्त्रियोंकी निरंतर वंदना करता हूँ, क्योंकि इनके द्वारा गायी गयी हरि-कथा तीनों भुवनोंको पवित्र करनेवाली है ॥ ६३ ॥

श्रीशुक बोले कि इसके अनंतर दाशार्ह (उद्धव), गोपियोंसे, यशोदासे और बाबा नंदसे आज्ञा लेकर और गोपोंसे मिलकर जानेके लिये—मथुरा वापिस आनेके लिये, रथपर बैठे ॥ ६४ ॥

नंदादिक उन्हें (उद्धवको) जाते देखकर अपनी आँखोंमें अनुराग-के आँसुओंको भर—प्रेमाश्रुओंसे अभिषिंचन कर, हाथोंमें उन्हें देनेके लिये अनेकानेक भेंटकी वस्तुएँ ले यह बोले ॥ ६५ ॥

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥ ६६ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मंगलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥ ६७ ॥
एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥ ६८ ॥
कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे उद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।

हमलोगोंके मनकी सारी वृत्तियाँ उन (श्रीकृष्ण) के चरणोंमें, वचन उनके नामोंका गान करनेमें और शरीर उनको प्रणाम करनेमें लगे रहें ॥ ६६ ॥

ईश्वरकी इच्छासे हमने जो कुछ भी मंगलमय आचरण और दानादि किये हैं उन कर्मों-द्वारा घूमते हुए—भ्रमते हुए हम किसी योनिमें जायँ, परंतु हमारी प्रीति परमेश्वर-श्रीकृष्णमें ही लगी रहे ॥ ६७ ॥

राजन्, उद्धवजी इस प्रकार कृष्ण-भक्त गोपोंसे पूजा पानेपर पुनः श्रीकृष्ण-पालित मथुरामें आये ॥ ६८ ॥

श्रीकृष्णको प्रणाम करनेके अनंतर व्रज-वासियोंकी भक्तिकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर—उनकी भक्तिके उद्रेकमें आकर, वसुदेवजीको, राम (बलराम) को और महाराज उग्रसेनको नंदादिक-द्वारा दी गयी भेंटें दीं ॥ ६९ ॥

परिशिष्ट—("ख") *

ऊधौ कौ उपदेस सुनौं किनि कॉन दै।
निरगुन स्याँम सँदेस पठायौ आँन दै॥

❀

कोउ आवत उहि ओर जहाँ नँद-सुवन पधारे।
सरस बेंनु-धुनि होत मनौं आए ब्रज प्यारे॥
धाए सब दल गाजि कें, ऊधौ देखे आइ।
लै आए ब्रजराज-घर आँनद उर न समाइ॥ १॥

❀

अरघ, आरती, तिलक, दूब, दधि माथें दीन्हीं।
कंचन-कलस भराइ, बहुरि परिकंमा कीन्हीं॥
गोप-भीर आँगन भई, जुरि बैठे इक जाति।
जल-झारी आगें धरी, पूँछति हरि-कुसलाति॥ २॥

❀

कुसल-छेंम बसुदेव, कुसल देवकि-कुबजाऊ।
कुसल-छेंम अक्रूर, कुसल नीके बलदाऊ॥
पूँछि कुसल गोपाल की, रहे सकल गहि पाँइ।
प्रेम-मगन ऊधौ भए, पेखत ब्रज के भाइ॥ ३॥

---

* सूरदासजीका 'भ्रमरगीत' बहुत प्रसिद्ध है और उसकी सुमधुर पदावली बहुतोंका कंठहार है। सूरसागरके उस भ्रमरगीतमेंसे कुछ चंदद पूर्वीर सम्पादकोंकी सूझ-बूझके अनुसार छप चुका है, अतः उसे न दुहराकर हम श्रीसूरकी तत्सम एक नयी प्राप्त रचना निज पाठकोंकी भेंट परिशिष्ट "ख" रूपसे की जारही है, भूल-चूक लेनी-देनी।

ऊधौ, जो पग-पाँनि नाहिं ऊखल क्यों बाँधे।
नैंन, नासिका, मुख न, चोरि-दधि कौंने खाधे॥
तब सु खिलाए गोद में, बोलि तोतरे बैंन।
ऊधौ, ताहि बताव ही, जाहि न सूझै नैंन॥ ९॥

❀

माया अनित अधारी, ता लोचन दुइ नाखे।
ग्याँनी नैंन अनंत ताहि सूझै परमाखे॥
बूझौ निगम-बुलाइ कैं, कहै भेद समुझाइ।
आदि-अंत जाकौ नहीं कौंन पिता, को माइ॥ १०॥

❀

ऊधौ, घर कौ घूर, कहौ मन कहँ-कहँ धावै।
अपनौ घर परिहरै, कहाँ कौ घूर बतावै॥
मूरख जादव जाति है, हमहिं सिखावै जोग।
हम कौं भूली कहत हैं, हम भूलीं कै लोग[1]?॥ ११॥

❀

प्रेम, प्रेम तैं होइ, प्रेम तैं पर है रहिऐ।
प्रेम-बँधौ संसार, प्रेम-परमारथ लहिऐ॥
एकै निसचै प्रेम कौ जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचौ निसचै प्रेम कौ, जाहि मिलैं गुपाल॥ १२॥

❀

ऊधौ, कहि सत-भाव न्याइ तुम्हरे-मुख साँचै।
जोग-प्रेम-रस-कथा, कहौ कंचन के काँचै॥
जाके पर है हुजिऐ, गहिऐ सोई नेम।
मधुप, हमारी सौं कहौ, जोग भलौ कै प्रेम॥ १३॥

❀

पाठान्तर—

१. हमहीं भूली कहत हैं, के भूले सब लोग।
भूली हम ते कहत है, हम भूली कै लोग॥

परिशिष्ट—("ग"[1])

जुक्ति-समूह

दोहा

ऊधौ जू सौं इक समैं, यहै कही ब्रजराज ।
गोकुल-भौंम सिधारिये, परमारथ के काज ॥ १ ॥

❀

उँनकी तौ अत-ही लगी, हँम सौं ऊधौ, प्रीति ।
जाते हँम कौं वे लहैं, जाइ सिखावौ रीति ॥ २ ॥

❀

ऊधौ जू गोपींन कौं, जाइ देहु हँम जोग ।
जाते उनकौ बरु घटै, दारुन, दीरघ सोग ॥ ३ ॥

❀

---

१. यह कलात्मक कृति पहले लीथोमें छपी सुप्रसिद्ध हिंदी-लेखक पं० हरिशंकरजी शर्मा, लोहामंडी आगराके यहाँ देखनेमें आयी थी। अतः लोकोक्तियोंका इतना सुंदर संग्रहरूप कृष्ण-काव्य, विशेषकर 'उद्धव-गोपी'-संवादके रूपमें बड़ा सुंदर लगा। इसके पूर्व लोकोक्तियोंके कुंदनमें जड़ी एक रम्य-रचना "श्रीव्रजानंद" कृत "उखान भागवत दशम" देखनेमें आयी थी, वह भी अत्यन्त सुंदर थी। अस्तु, इन दोनों ग्रन्थ-रत्नोंके सुसंपादित रूपमें प्रकाशनकी चर्चा चली, पर वह हो न सका। इधर श्रीनंददासजीके "भ्रमरगीत" के साथ उसे देनेकी याद आयी, एक मित्रने इसके हस्तलिखित रूपमें प्राप्तिकी सूचना दी, अतः दौड़ा गया और देख देख प्रतिलिपि कर ले आया, वही आज परिशिष्ट "ग" रूपमें प्रस्तुत है। रचना कैसी है, उसे रसिक पाठक देखें और समझें। —संपादक

कुंडलिया

बूझौ, ऊधौ जू सकल, हँमने तुँम्हरौ ग्यौंन।
अबलँन के उपदेस कौं, लाए ब्रज में ग्यौंन॥
लाए ब्रज में ग्यौंन, हिए की नाँहीं जाँनत।
"सूसै-चूसै नाँहिं गुलेल की, बिमँन सु ठाँनत"॥
'कहैं सदाँ सिवलाल', रावरौ भौत सँमूझौ।
"रहौ मौन ह्वै सदाँ, बात हूँन तें नहिँ बूझौ"॥ १३॥

❀

ऊधौ जू, गोपाल की, नाँहिं प्रीति में साख।
"चार दिनाँ की चाँदनी, फेरि अँधेरौ पाख"॥
'फेरि अँधेरौ पाख', रास तँन हँमने कीन्हौं।
ताकौ यै फल भयौ, जोग गोपिँन तुँम दीन्हौं॥
'कहैं सदाँ सिवलाल', हुँम्हें जाँन्यौं हम सूधौ।
रीति-करँम न अनीति भाँखिए आपन ऊधौ॥ १४॥

❀

दासी 'कुबजा' कंस की, ता कौ अधिक मिजाज।
"नाज नगरिया में छले, भयौ कुरिभटे-राज"॥
'भयौ कुरिभटे राज', प्रेँमम सौं कुबरी बिगरी।
ये चौंहुँ नहिँ कहैं, जाति हँम जाँनें सिगरी॥
'कहै सदाँ सिवलाल', बनी यै जोरी खासी।
"वे अहीर के पूत, करी घरबारी दासी"॥ १५॥

❀

भाखो, या गोपाल कैं, काहू की नहिं पीर।
"कोँम-सरैं दुख-बीसरैं, छाछ न देत अहीर"॥
'छाछ न देत अहीर', प्रीति उनमें कहँ पाई।
"टेरी की ब्रिय आइ, नृपति के मनैं न आई"॥

या गुपाल सौं प्रीति कर, हँम चाँख्यौ रस-रास ।
"नदी-किनारे रूखरा, जब-तब होइ बिनास" ॥
'जब-तब होइ बिनास', हितै ठाँनें सो भूलै ।
हँम जाँनत-हीं माँहिं, नेह यै दुख कौ मूलै ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', हार मोंहिनी-आल सौं ।
बचँन न पायौ ऊधौ कोउ, या गुपाल सौं ॥ २१ ॥

❀

बिगरौ हँमरौ ना तक्यौ, तोरी प्रीति चटाक ।
"धोबी-बेटा चाँद सौ, सीटी और फटाक" ॥
'सीटी और फटाक', हँमारी कहा है गिन कौं ।
घर-घर-रयागौ, कौनि गई, अब का है तिँनकौं ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', देह बदनाँमीं सिगरै ।
"चाँहें ताकी फटै, कहा धोबी कौ बिगरै" ॥ २२ ॥

❀

पायौ जब सौं प्रेम हँम, नेम रह्यौ न सुनाभ ।
"आग-लगंते झोंपरा, जो निकसै सो लाभ" ॥
'जो निकसै सो लाभ', हमारें नाँहिं न इच्छा ।
चाँहें उनसौं मिलौ, छाँहिं तो तुँम सौं सिच्छा ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', हँमारें निमचै आयौ ।
"खोई म्हाँई गंग, सोई हँमने फल पायौ" ॥ २३ ॥

❀

भाखी, लागी होइ तो, तौ मन पीर पिराइ ।
"छुरी पराए पेट में, मौंनौं ग्रुम में जाइ" ॥
'मौंनौं ग्रुम में जाइ', ओत गोपिँन कौं अब-ली ।
करते रास-बिलास, न्यौंन अब हो कई नब-ली ॥
'कहै सदौं सिवलाल', "मीत गौं कौ बेमरल्यौ ।
कुबजा सौं रति भाप, देत सिच्छा हँमें भाखी ॥ २४ ॥

ऊधौ, कुबजा सों करी, प्रीति हमें दै पीठ।
"माजँन, साजँन हुरि मिले, हूँठे परे बसीठ" ॥
'हूँठे परे बसीठ', लगौ-री आप बाट कौ।
"धोबी कौ कूकरा, भयौ ना घर-हि घाट कौ" ॥
'कहै सराँ सिबलाल', करौ ऐसौ बनमाली।
आप करत है भोग, जोग गोपिन कों आली ॥ २९ ॥

❀

ऊधौ, आगें ना हती, या सुग्यौंन की खोइ।
"ज्यौं-ज्यौं भींजै काँमरी, त्यौं-त्यौं भारी होइ" ॥
'त्यौं-त्यौं भारी होइ', जोग वे हमें सिखावें।
औरैंन देंमें सगुंन-आप 'कुत्तंन-सुखपावें' ॥
'कहै सराँ सिबलाल', जाँनती हरि कौं सूधौ।
कुबजा सों करि भोग, देति सिच्छा सों ऊधौ ॥ ३० ॥

❀

ऊधौ, स्याँम-सुहाग कौ, कुबजा के सिर सिद्ध।
"घर कौ जोगी, जोगनाँ, आँन गाँउँ कौ सिद्ध" ॥
'आँन गाँउँ कौ सिद्ध', पठायौ हमें जोग है।
लखिएँ पै सुबिबेक, बाहि दासी सु भोग है ॥
'कहै सराँ सिबलाल', जाँनती-हौं हरि-सूधौ।
"मिल बायस औ हंस, भली जोरी सुभ ऊधौ" ॥ ३१ ॥

चौपई

ऊधौ, यहाँ जोग लै आये। "ज्यौं भैंसिन में बीन बजाए" ॥
तहाँ जोग बिसरयौ भाई। "पोथी फटकें उड़-उड़ आई" ॥ ३२ ॥

❀

हुईं बसत ताकौं तू भयौ। जोबँन-मूरि दूर लै गयौ ॥
केहु प्राँन जो हमरे पास। "गहैं भंक काजर की भास" ॥ ३३ ॥

निस दिन प्रान हँमारे डहैं। "फूटे-मासँन कब तक बुहैं" ॥
इक तौ मरती स्याँम बियोग। "ता पर कहत लेहुरी जोग" ॥ ३४ ॥

❀

बुद्धिवती कुबजा-सी तिया। "गँड़िया गाँउँ कुँम्हार म्हैलिया"॥
ब्र्थाँ सु-जो करती है बैर। "जल में बसैं मगर सों बैर" ॥ ३५ ॥

❀

प्रीति करी हँम पायौ जोग। "भाग आपने कुबजा-भोग" ॥
"करँम-हीन जब खेती करै। बैल मरै, कै सूखा परै" ॥ ३६ ॥
जाँनें हँमरी सखी बलाइ। "अंधी पीसै कुत्ता-खाइ" ॥
और कलंक लेहु ब्रजनाथ। "बगुला-मारैं टखना हाथ" ॥ ३७ ॥

❀

देहु जोग सिर चूक सुधारौ। "चेरी करतब लातँन मारौ"॥
ऊधौ कौं मत सूधौ जाँनौं। या सौं कपटी और न मानौं॥ ३८ ॥

❀

आली, ए उँन मनुषँन-माँहिं। "कोढ़ी मरै सँगाथी चाँहैं" ॥
छोटे ऊधौ, बड़े तमाँसे। "हाथी लरै तऊ बटिहा से" ॥ ३९ ॥

❀

ऊधौ, गोपिँन सौं का काज। "सूनौं घर भिड़ियँन कौं राज" ॥
इँन दुक्खँन सौं छाती जरै। "बड़ी धार चमरा घर परै" ॥ ४० ॥

❀

"टट्टुआ चढ़ि जीतै संग्राम। क्यों खरचै तुरकँन को दाँम" ॥
जिननें प्रेम-सुधा-रस चख्यौ। "ऊधौ, मन न कछू अभिलख्यौ"॥४१॥

❀

नीच-प्रसंग स्याँम की भूल। "खजुही कुतिया, मखमल झूल" ॥
देखौ, वा करता कौ खेल। "सीस-छँछुंदर परयौ फुलेल" ॥ ४२ ॥

❀

ऊधौ जू, हँम कों यै भई। "बाँस खाइ, उतराई दई" ॥
ऊधौ, ब्रज कौ पैंडौ बेंड़ौ। "नाँच न आवै आँगन टेढ़ौ" ॥ ४३ ॥

❁

आँनी बात चलावै कोंन। "भेंस न कूदी, कूदी गोंन" ॥
लीजै नेंम, प्रेंम कों छोर। "परधँन देखें रोबै चोर" ॥ ४४ ॥

❁

"नाँकी अपनी नाँहिँ कँमाई। कैसें दोष दँइ-री माई" ॥
रहैनों ना हमरौ उन-साथ। "भरे सँमुदर घोंघा हाथ" ॥ ४५ ॥

❁

ऊधौ जू, हँमरी यै भूल। "प्रीति करी, सो दुख कौ मूल" ॥
अब यै जीबँन काटी लेई। "बौंधौ बनियाँ, सीधौ होई" ॥ ४६ ॥

❁

हँम कों ऊधौ ग्याँन बतावै। "कोउ मरै, मल्हारै गावै" ॥
कपटी कुबजा सोहत गाढ़ी। "गज-भर मियाँ, सबा गज दाढ़ी" ॥ ४७ ॥

❁

जीबँन-मूरत स्याँम निहारौ। नेंनन आगें टरत न टारौ ॥
टँट परी चंदँन के घिस्सर। "कोरि मँ के बेगारी मिस्सर" ॥ ४८ ॥

❁

नेंन-मूँदि कें ध्याँनें धरें। "चुँहूयौं-डारे पाथर सरें" ॥
करी प्रीति सो स्याँमहिँ तैसी। ऊधौ जू, करिहै को ऐसी ॥ ४९ ॥

❁

ऊधौ, हँमरें ना बिसवास। "टूटौ रिनियाँ घर में बास" ॥
कुबजा सों उन जोरी प्रीति। ऊधौ, यहै बड़ेन की रीति ॥ ५० ॥

❁

आसों होत सरीर आग में। "बेड़ बकायँन मियाँ बाग में" ॥
जोग नहीं जो हँमरौ काँम। मन मैं सुम्यौ सलोंनौ स्याँम ॥ ५१ ॥

❁

ऊधौ जू, हँम कौ दै मई। "गडुआ-गड़न भेरि दै गई" ॥
कुबजा की स्याँम पटानी। प्रीति न मेंटी हँम सौं मानी ॥ ५

❀

जाँम पाली ऊँमडौ मनमूंछा। "जोगी बड़े कुभावें तूंबा" ॥
कुबजा कें सु भरी-भरा। "मई जोगनी, गौंड में जटा" ॥ ५

❀

जो चाँहें सो दासी करै। श्री गुपाल जू कौ मन हरै ॥
ऊधौ जू, कछु कहन न भावै। "वा की भेंड़ी, लंका ढावै" ॥ ५

❀

डाँली प्रीति चार दिंन स्याँम। ऊधौ करीं हँमें बदनाँम
हाइ, हमें दै आँनाकाँनी। "चढ़िया चोरी, हरया चाँनी"

❀

ऊधौ, भलौ बनौं पै जोग। जा कौं सकल हँसत हैं लोग।
स्याँम करी कुबजा सौं प्रीति। "अंधौ मुला, फटी मजीति" ॥

❀

होत हँमारी छाती जरँन। "मूँड़-मुड़ाउत ओरे परँन" ॥

सोरठा

जहाँ, स्याँम की चाँह, प्रघटत ऊधौ जोग तहँ।
हँम ठाँन्यौं वौ ब्याह, "गावत गीत मसीत के" ॥ ५८

कुंडलिया

आए ऊधौ, तुँम भले, देत जोग उपदेस।
"आपुँन भीखाँ मंगते, द्वार खरे दरबेस" ॥
'द्वार खरे दरबेस', बेस अँग धूरि लगाएँ।
माथें राखी जटा, अँगोंहे बसँन रँगाएँ ॥
'कहै सदाँ सिवलाल', धरँम पै कैसौ लाए।
अबलँन कौं है जोग, बड़े स्याँनौ ब्रज आए ॥ ५९ ॥

चौपई

ऊधौ, हँम देखी अवगाहि। "लेखें-जोखें नदिया थाह" ॥
स्याँम नहीं गोपिँन के मीत। "होत अंकुरौ खायौ सीत" ॥ ६० ॥

❀

अब काहे कौ दरद हँमारौ। "तेली-चैलै नाहर मारौ" ॥
हँमरें सदाँ प्रॅम कौ नॅम। "सोहै लौहि छाँडि ज्यों हॅम" ॥ ६१ ॥

❀

ना ए पूरे, ना ए आधे। जोगी कूर मौंन ही साधे ॥ ६२ ॥

सोरठा

है अहीर की जाति, देत हँमें हरि जोग कौं।
नाँहन नई जनाति, लपुँ नहला बाँस कौ ॥ ६३ ॥

छंद जमका

ऊधौ कौं न काइल करौ, मत करौ तंग।
"नंग के घर नंग आए, पैंहर आए झंग" ॥ ६४ ॥

सोरठा

धरौ जोग बकसीस, ऊधौ जू, ये प्रीति फल।
"ऊखर-दीन्हौं सीस, चोटॅन कौ अब डर कहा" ॥ ६५ ॥

❀

करौ बैठ उपहास, ऊधौ सौं का बावरी।
"नाहिँन सूत-कपास, कोरी सौं लाठी-लठा" ॥ ६६ ॥

चौपई

दरसँन देते बड़ी कृपाली। देखें पाती अरती लाती ॥
भेंटे स्याँम भरे जिह देह। ता मैं बहुत सगौंमन लेह ॥ ६७ ॥

❀

भली करी ऊधौ, उपदेस। "रँगे स्यार ने ग्यादौ देस" ॥
यामें बात कहै कोउ कॅस। "जाकी लाठी ताकी भॅस" ॥ ६८ ॥

कुंडलिया

हुँम ग्यॉनी पूरे बनौं, हौं नहिं ग्यॉनी पॉउ।
"गुर के हुँम बादर करे, तोर-तोर कैं खाउ" ॥
'तोर-तोर कैं खाउ', चाउ है बड़ौ ओग सौं।
आपुँन योधे रोग, हटायौ हँम भोग सौं॥
'कहैं सदाँ सिवलाल', सदाँ के हौं हुँम ग्यॉनी।
"भूसर के नौ टका, बात हँमने अब जॉनी" ॥ ६९ ॥

चौपई

काहे खाली करतीं माथ। "धोएँ कुठला कौचैं हाथ" ॥
ऊधौ जू, व्रज में फिरि औंमें। कहियो जाइ तबै सुख पॉमें॥ ७० ॥

❀

भार हँमारौ उँन सौं छूटै। "सॉप मरै ना लाठी टूटै" ॥
ऊधौ इँन बातँन रस नॉहीं। समझ लेउ अपने मन मॉहीं॥ ७१ ॥

❀

सूरौ न मॉनौं ऊधौ व्रज कौ। "लंका छोटौ बॉमन गज कौ" ॥ ७२ ॥

दोहा

भाषा-जुक्ति-समूह कौं, बरन्यौं सिव परसाद।
ऊधौ अरु गोपॉन कौ, लैकर हिय संवाद ॥ ७३ ॥

❀

जाकौं सुँन रस-रत्न कौ, होत बनाइ प्रकास।
गोविँद, गोपीजँन-सहित, करैं हृदे में वास ॥ ७४ ॥

❀

अष्टादस बसु पर गिनैं, संवत करौ बिचार।
माघव सुकला पंचमी, अदिति नखत गुरुवार ॥ ७५ ॥

अर्थात्

संवत् १८८६ वि०

॥ इति श्रीसदाशिवलालकृत "जुक्ति-समूह" समाप्त ॥

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

(सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

ंक बालक–पृष्ठ ७६, सचित्र, इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं। मूल्य ... .३१

क नारी–पृष्ठ ६८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र, इसमें शबरी, मीराबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रबियाकी कथाएँ हैं। मूल्य .३१

क-पञ्चरत्न–पृष्ठ ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र, इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ... .३१

ादर्श भक्त–पृष्ठ ९८, एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र, इसमें शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं। मूल्य ... ... .३१

क-चन्द्रिका–पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं। मूल्य .३१

क-सप्तरत्न–पृष्ठ ८८, सचित्र, इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ... .३१

क्त-कुसुम–पृष्ठ ८४, सचित्र, इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ... .३१

ेमी भक्त–पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं। मूल्य ... .३१